ॐ श्रीः।

(पूज्यपाद महर्षि शाण्डिल्य कृत)

भक्तिदर्शन।

श्रीस्वामि ज्ञानानन्दजी महाराज

विरचित–

भाषाभाष्यसहित।

जिसको

खेमराज श्रीकृष्णदासने

निज "श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् मुद्रणयन्त्रालयमें

मुद्रितकर प्रकाशित किया।

संवत् १९७९ शक १८४४.

ॐ श्रीः ।

(पूज्यपाद महर्षि शाण्डिल्य कृत)

भक्तिदर्शन ।

श्रीस्वामि ज्ञानानन्दजी महाराज
विरचित-

भाषाभाष्यसहित-

जिसको

खेमराज श्रीकृष्णदासने
निज "श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् मुद्रणयन्त्रालयमें
मुद्रित कर प्रकाशित किया ।

संवत् १९७९ शक १८४४.
1922

यह पुस्तक खेमराज श्रीकृष्णदासने बम्बई खेतवाडी ७ वीं गली खम्बाटा लैन निज "श्रीवेंकटेश्वर" स्टीम् प्रेसमें अपने लिये छापकर यहीं प्रकाशित किया।

ॐ

मङ्गलाचरणम् ।

अजन्मानोलोकाः किमवयववंतोपिजगतामाधिष्ठातारंकिंभवविधिरनादृत्य
भवति ॥ अनीशोवाकुर्याद्भुवनजननेकःपरिकरोयतोमंदास्त्वांप्रत्यमरवरसंशेर
तइमे ॥ त्रयीसांख्यंयोगःपशुपतिमतंवैष्णवमिति प्राभिन्नेप्रस्थानेपरमिदमदःपथ्य
मितिच ॥ रुचीनांवैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषांनृणामेकोगम्यस्त्वमसिपय
सामर्णवइव ॥ मनःप्रत्यक्चित्तेसविधमविधायात्तमरुतः प्रहृष्यद्रोमाणःप्रमदस
लिलोत्संगितदृशः ॥ यदालोक्याह्लादंहृदइवनिमज्ज्यामृतमयेदधत्यंतस्तत्त्वंकि
मपियमिनस्तात्किलभवान् ॥ त्वमर्कस्त्वंसोमस्त्वमसिपवनस्त्वंहुतवहस्त्वमाप
स्त्वंव्योमत्वमुधरणिरात्मात्वमिति च ॥ परिच्छिन्नामेवंत्वयिपरिणता वि
भ्रतु गिरं न विद्मस्तत्तत्त्वंवयमिहतुयत्त्वं न भवसि ॥ त्रयीं तिस्रोवृत्तीस्त्रिभुवन
मथो त्रीनपि सुरानकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिराभिदधत्तीर्णविकृति ॥ तुरीयंतेधामध्वनि
भिरवरुंधानमणुभिःसमस्तव्यस्तंत्वांशरणदगृणात्योमितिपदम् ॥ नमोनेदिष्ठायप्रि
यदवदविष्ठाय चनमोनमःक्षोदिष्ठायस्मरहरमहिष्ठायचनमः ॥ नमोवर्षिष्ठायात्रि
नयनयविष्ठायचनमोनमःसर्वस्मैतेतदिदमितिशर्वायचनमः ॥ बहलरजसेविश्वो
त्पत्तौभवायनमोनमः प्रबलतमसेतत्संहारेहरायनमोनमः ॥ जनसुखकृतेसत्त्वो
द्रिक्तौमृडायनमोनमःप्रमहसिपदेनिस्त्रैगुण्येशिवायनमोनमः ॥

सन् - 1922.

॥ श्रीः ॥

भूमिका ।

देवर्षि नारदजीने श्रीमहाविष्णुसे पूछा, प्रभो ! सत्य कहो आप तो सर्वव्यापकही हैं, परन्तु विशेष करके किस स्थानमें रहते हो ? ऐसा नारदजीके प्रश्न करनेपर श्रीविष्णुजीने कहा " नाहं तिष्ठामि वैकुण्ठे योगिनां हृदयेऽपि च । मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥" श्रीमहाविष्णु बोले--मैं जैसा भक्तके हृदयमें प्रीतिसे रहता हूं वैसा योगियोंके हृदयमें वा वैकुण्ठमें भी नहीं रहता । अर्थात् ईश्वर प्राप्तिके विषयमें सबसे श्रेष्ठ भक्तिही है । भक्ति करनेसे साधारण अज्ञ जन भी ईश्वरके पदको प्राप्त होगये । अतः ईश्वर प्राप्तिके लिये यह महर्षि शाण्डिल्य प्रणीत "**भक्तिदर्शन**" ग्रन्थपर श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजने भाषा भाष्य करके जिज्ञासु लोगोंके लिये सुगम उपाय कर दियाहै। आशा है कि इसके परिशीलनसे सर्व साधारण जन ईश्वरभक्तिका लाभ उठायके स्वामीजीके परिश्रमको सफल करेंगे । इति ।

भक्तजनानुरागी:-

खेमराज श्रीकृष्णदास-

"श्रीवेंकटेश्वर" मुद्रणयन्त्रालयाध्यक्ष-मुम्बई.

ओंनमो भगवते वासुदेवाय ।

भक्ति ।

जब त्रिताप से तापित होकर जीव मूर्च्छित होने लगता है; न जाने कहां से दुःखरूप उत्ताल-तरंग-राशि आय जब जीव को अशांतिरूप सागर में डुबाने लगती है, जब संयोग-भोग-वियोगरूप अनलशिखा से जीव विदग्ध होकर "किंकर्तव्यविमूढ" हो रोय रोय जिधर तिधर भटकने लगता है, तब न जाने अंतर हृदय में कौन हृदयसखा आनकर जीव के दुःख दूर करने का आश्वासन दे उसको गोद में लेलेते हैं ? जब कठिन रोग-शय्याशायी जीव घोरयंत्रणा से अति पीड़ित हो छटपटाने लगता है; क्या पिता माता का स्नेह, क्या कन्या पुत्र की श्रद्धा, क्या स्त्री का प्रेम, क्या वैद्यों की औषधि, और क्या सेवकगणों की सेवा, कुछ भी उसके मर्मविदारक क्लेशों की शान्ति नहीं कर सके, जब असार संसार बन में स्वतः ही नाना दुःखरूपी बड़वानल उत्पन्न होकर निःसहाय जीवको चारों ओरसे घेर लेते हैं, और किसी ओर से भी उसके बचने की आशा नहीं रहती, तब न जाने कौन अन्तर-आकाशविहारी दीन-दुःखहारी को स्मरण करते ही जीव के सब क्लेश शान्त होने लगते हैं, और उसके हृदयमें निराशा से आशा की स्फूर्ति होने लगती है ? यह प्रश्न अति गूढ है; जीव को यह गुप्त रहस्य भेदनकर कौन उत्तर देने में समर्थ है ? आजकल के गृहस्थगणों से इस अन्तर्जगत् के प्रश्न

का क्या उत्तर पूछें, वे जब बहिर्जगत्में सदाही मोहित होरहे हैं, तब अन्तर्जगत्के प्रश्नका कैसे उत्तर देंगे ! आज दिन माता पितासे भी इस प्रश्नका ठीक ठीक उत्तर नहीं मिलसक्ता, क्योंकि वे आजदिन मोह आदिमें बहुतही मोहित हो अपने कर्त्तव्यको भूलरहे हैं ! वर्त्तमान समय के आचार्य्यगणोंसे जिज्ञासा करने पर भी अपनी तृप्ति नहीं होगी, क्योंकि वे भी आजकल कामिनी, कांचनके मदमें आय अपने आपेको बिसार रहेहैं । साधक ! तुम पर ही हमारी आशा है; इस अकुल-पाथार घोर-अंधकार रजनीमें तुमही हमारे ध्रुव-तारा हो तुमसे ही इस बिपथ-गामी जीवका पता लगसक्ता है; बताओ ! कौन वह अपना जन है ? कौन वह मित्रहै कि जिनको हम भूलने परभी वे हमको नहीं बिसारते ? बोलो, जीवसे उस अन्तर्यामीका क्या सम्बन्ध है, कि जब पिता, माता, भ्राता, पुत्र, मित्र, कलत्र, कोईभी काम नहीं आते तब वेही जीवके एक-मात्र प्रियतम चुपकेसे आय उसे गोदमें ले उसके आंसू पोंछ देते हैं ?

जीव प्रीतिका भूखा है । जब उसकी प्रीति माता, पिता, आर आर गुरुजनोंमें होवे तो उसी प्रीतिका नाम श्रद्धाहै, जब उसको प्रीति स्त्री वा मित्र आदिकमें हो तव उसही प्रीतिका नाम प्रेम है; जब पुत्र कन्यादिकमें हो अर्थात् वह श्रोत निम्नगामी हो तब उसका नाम स्नेह है; परंतु जीव जब इन सांसारिक सम्बन्धोंको अनित्य समझकर अपने हृदयके प्रीतिप्रवाह को उस एकमात्र हृदयनाथ जगत्कर्त्ता परमेश्वरकी ओर फेरे तबही उस प्रीतिका नाम भक्ति है । जीवकी स्वतः ही गति अपने हृदयनाथकी ओर होने परभी वह उस सम्बन्धको बिसार और और अनित्य

पदार्थोंमें सम्बन्ध स्थापन करलेता है; परन्तु अनित्य वस्तुकी नित्यता कहां ? जब उसकी आशा इन अनित्य पदार्थोंसे नहीं मिटती है, जब उसके चित्त पर आघात पर आघात लगते हैं, और विपत्तिमें किसीको भी अपना हितकारी नहीं पाता, तब उसकी पूर्वस्मृति जाग उठती है और वह कहने लगता है कि, हे हृदयनाथ ! हे दीनबंधो ! तुम कहां हो; हे जगत्पिता ! सुना है तुम सर्व दुःख निवारण हो, तुमही दीन दुःखियोंके परमसखा हो; अब यह त्रिताप तापित दीन हीन तुम्हें छोडके कहां जाय; बहुत दिन बीते वह अपने हृदयनाथको छोड़कर नाना विषयोंमें जहां तहां भटकता रहा, अब तो कृपाकर मति फेरो; हे नाथ ! तुमने भी इस विपथगामीकी कुमति देख, परीक्षाके अर्थ इसे धन, जन, पुत्र कलत्र आदि दे भुला रक्खा था, परन्तु हे प्रियतम ! अब और परीक्षा न करो, दुक बांकी झांकीसे महर कर इस ओर निहारो; 'सत्यपि भेदापगमे नाथ ! तवाहं न मामकीनस्त्वम् । सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः"; हे नाथ ! भेद न होने पर भी मैं तो आपका ही हूं न कि आप मेरे, तरंग तो समुद्रके होते हैं परन्तु समुद्र तरंगका कभी नहीं हो सक्ता; प्रभो ! मैं अब न तो पुत्र, धन, कलत्र की इच्छा करता हूं, न स्वर्गादि सुख की वासना रखता हूं, अब तो यही प्रार्थना है कि ऐसा करो कि आपके चरण युगुलोंमें मेरी अचला भक्ति बनीरहे ।

"अपराधसहस्रसंकुलम्पतितम्भीमभवार्णवोदरे ।
अगतिंशरणागतंहरेकृपयाकेवलमात्मसा‍ कुरु ॥
नास्थाधर्म्मेनवसुनिचयेनैवकामोपभोगे

यद्भाव्यंतद्भवतुभगवन्पूर्व्वकर्म्मानुरूपम् ॥
एतत्प्रार्थ्यम्ममनबहुलंजन्मजन्मान्तरेऽपि
त्वत्पादाम्भोरुहमुपगतानिश्चलाभक्तिरस्तु" ॥

भक्तिमार्गके श्रेष्ठाचार्य्य महर्षि श्रीशांडिल्यजीने कहा है कि, "सापरानुरक्तिरीश्वरे" और भक्ताग्रगण्य देवर्षि नारदजीने कहा है कि "अोंसानकामयमानानिरोध-रूपात्" अर्थात् ईश्वरके प्रति सम्पूर्ण अनुरागका नाम भक्ति है, जब जीवका मन समस्त प्रपंच जगत्से हटकर केवल भगवान्में ही लग जाता है उस अवस्थाका नाम भक्ति है; परन्तु यदि भक्ति किसी मनःकामना पूर्तिके अर्थ हो तो वह भक्ति यथार्थमें भक्ति नहीं है; निष्काम भक्ति ही यथार्थ भक्ति है । जब नृसिंहअवतारमें श्रीभगवान् प्रकट हो धर्म्म-की रक्षा और अधर्म्मके नाश करनेमें प्रवृत्त हुए, और अपनी अद्भुत लीला दिखाय अधार्म्मिक हिरण्यकश्यपु को मारडाला तब अपने भक्त प्रह्लाद पर प्रसन्न हो बोले कि. "वत्सवर ! प्रार्थना करो" । भक्ताग्रगण्य दैत्यकुल तिलक प्रह्लादने श्रीभगवान्को प्रणाम कर, करजोड विनती की कि, "प्रभो ! मैं तो कोई व्यापारी नहीं हूं जो वर मांगूँ मैं तो आपका भक्त हूं" । ऐसे ही अनन्य भक्तिको धारण कर पांडवगण भगवद्भक्त कहाये थे; जब महाराजा युधि-ष्ठिर दुर्योधन द्वारा राज्य बहिष्कृत हो निःसहाय अव-स्थामें वन वनमें विचरते फिरते थे; तब उनके क्लेशसे क्लेशित हो उनकी सहधर्म्मिणी रानी द्रौपदी एक दिन महा-राजासे कहने लगी कि "हे नाथ ! तुम भगवान्के ऐसे भक्त हो तिसपर भी तुम्हें इतना क्लेश सहना पडरहा है, तुम क्यों उनसे अपने दुःख निवारणके अर्थ प्रार्थना करते

हो?" परमभक्त धर्म्मराज महाराजा युधिष्ठिरने उत्तर दिया कि "हे प्रिये, यह जो संसारका खेल है सब अपने ही कर्म्मवश है, इसमें अधिक क्या सोचना; और मैं किसी स्वार्थ साधन की इच्छा से भगवान्से प्रीति नहीं करता, मेरे मन की गति स्वतः ही उनकी ओर झुकती है इसकारण मैं उनकी भक्ति करता हूं। देखो! सन्मुख कैसा सुन्दर प्रशान्त महान् हिमालय पर्वत खडा है; मेरे नयन इनसे कुछ भी इच्छा नहीं रखते परन्तु उनकी सौन्दर्य्यता नयनों को अच्छी लगती है इस कारण ही वे मोहित हो उसको निहारा करते हैं"। भक्तिके लक्षण वर्णन करने में परम ज्ञानी महर्षि शांडिल्य का मत है कि, आत्मरति के अविरोधी विषय में अनुराग का नाम भक्ति है, यथा "ॐ आत्मरत्यविरोधे नेति शाण्डिल्यः" अर्थात् जब जगत का भान जाता रहता है और साधक एकमात्र आत्मचैतन्य में ही सदा स्थिर रहकर परम आनन्दको भोग करता है उसी का नाम आत्मरति है, इसी आत्मरतिको प्राप्तकर जब साधक अपने हृदयनाथ के साथ एकरूप होजाय उसीका नाम महर्षि शाण्डिल्य ने यथार्थ भक्ति कहा है; महर्षिजीके इस मत म और अद्वैतवादकी ब्रह्मसद्भाव अवस्था में कुछ भी भेद नहीं है। इस विषयमें देवर्षि नारद का मत है कि, "ॐ नारदस्तुतदर्पिताऽखिलाचारतातद्विस्मरणेपरमव्याकुलनेति" अर्थात् जब भक्त का ऐसा स्वभाव हो जाय कि, वह अपने सम्पूर्ण कर्म्मों को भगवान् में ही अर्पण किया करे और उनको कभी भी न भूला करे और यदि भूलजाय तो उसके चित्तमें बडी ही विकलता हुआ करे साधककी इस अवस्था को ही महर्षि नारद ने भक्ति कहा है। लौकिक और पारमार्थिक भेद से कर्म्म दो प्रकार का

होता है, जब साधक पुत्र, कलत्र पालनादि लौकिक कार्य्य अथवा यज्ञ, तपस्या, योगादि, पारमार्थिक कार्य्य कुछ ही करे परन्तु उसके चित्त की ऐसी एकाग्रता रहे कि जिससे उसके बिचार में यही जमारहे कि मैं यह सब श्रीभगवान् की पूजाही कर रहा हूं,-"प्रातरुत्थायसायाह्नं सायाह्नात् प्रातरंततः। यत्करोमिजगन्मातः तदेवतवपूजनम्॥" हे जगन्माता! प्रातःकाल उठकर सन्ध्यासमय पर्य्यन्त और सायंकाल से लेकर पुनः प्रातःकाल पर्य्यंत जो कुछ कार्य्य मैं करता हूं हे जननी! सब तुम्हारी ही पूजा है, जब ऐसा कहने की सामर्थ्य साधकको होजाती है तब ही वह साधक पूर्ण भक्त कहाता है। भक्तिमार्गके क्या प्राचीन आचार्य्य पूज्यपाद महर्षिनारद,वेदव्यास,गर्ग,शाण्डिल्य आदि, और क्या आधुनिक आचार्य्य श्रीचैतन्यदेव और श्रीवल्लभाचार्य्य प्रभृतिगण सबही ने भक्तों के उदाहरण देते समय व्रजगोपिका गणोंकी बडीही प्रशंसा की है; यथा " ॐ यथाव्रजगोपिकानाम्।" श्रीबृन्दावन-बिहारिणी गोपिकागणों ने भक्ति की पराकाष्ठा दिखाई है; वस्तुतःकृष्णप्रेम में मतवारी व्रज-नारीगणों ने अपने सारे संसार के सुखोंको तुच्छ करदिया था वैसा उदाहरण इस संसारमें बहुत कम देखने में आता है; उन्होंने श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दके प्रेम में विह्वल हो गृहऐश्वर्य्य, मानसम्भ्रम, कुललज्जा, लोकलज्जा, सबही गवाँय दिया था। इसी कारण श्रीभगवान्ने निजमुखसे ही कहा है कि, " तामन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थेत्यक्तदेहिकाः। एत्यक्तलोकधर्म्मांश्च मदर्थे तान्बिभर्म्यहम्॥ मयिताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्ते गोकुलस्त्रियः। स्मरन्त्योंग विमुह्यन्ति बिरहोत्कण्ठ्यविह्वलाः॥ प्रधारयन्ति कृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथंचन। प्रत्यागमनसंदेशैर्व्वल्लव्यो मे मदात्मिकाः॥"

अर्थात् हे उद्धव ! गोपीगणों ने मुझमें ही मन समर्पण कर दियाहै, मैं ही उनका प्राण हूं, मेरे लिये ही उन्हों ने अपने अपने दैहिक सब कार्य्यों को त्याग करदिया है, जिन्हों ने मेरे लिये ही अपने २ लौकिक व्यवहार और धर्म्मके विधि निषेधको तुच्छ करदिया है उन गोपीगणों की मैं ही रक्षा करता हूं; गोपीगण मुझको ही प्रियसे भी अति प्रिय कर जानती हैं; मेरे उनसे दूर रहने पर वे मुझको स्मरण करके दारुण विरहव्यथासे व्याकुल हो अपने आपेको भूल जाती हैं; मेरे बिना दर्शनके वे बड़े ही क्लेशसे प्राण धारण करती हैं; श्रीबृन्दाबनमें मेरे पुनरागमन रूप शुभसम्बाद की आशामें ही वे जीवित हैं। यदि कोई ऐसा समझे कि गोपीगणोंका श्रीकृष्णचन्द्रमें प्रेम, केवल मनुष्य रीतिके स्त्री पुरुषोंके प्रेमके नाईं था: क्योंकि भक्तिमार्गके आचार्य्योंने भक्तिसूत्रमें लिखा ह कि " ओं न तत्रापि माहात्म्य ज्ञानविस्मृत्यपवादः "। ओंतद्विहीनं जाराणामिव अर्थात ईश्वर-माहात्म्यज्ञानसे जो ईश्वर में प्रीति होतीहै उसीको भक्ति कहते हैं और ईश्वर-माहात्म्यज्ञानके सिवाय जो साधारण प्रीति होती है उसको भक्ति नहीं कहते यथा जार अर्थात व्यभिचारियों की प्रीति। भक्तिमार्ग के इस विचारसे यही सिद्धान्त होता है कि यदि गोपीगणों को ईश्वरमाहात्म्य ज्ञान न था और उन की भक्ति केवल नायक नायका की प्रीतिके रूपसे ही थी तो वे कैसे भक्त कहासक्ती हैं ? परंतु शास्त्र न देखनेसे ही ऐसे प्रश्न उठसक्ते हैं; जब शास्त्रों में कृष्णप्रेममदोन्मात्तिनी गोपिकागणों को कहते हुए देखते हैं कि " अस्त्येवमे तदुपदेशपदेत्वयीशो प्रेष्ठो भवस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा "। " व्यक्तंभवान् व्रजभयार्तिहरोभिजातो " " नखलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनाम-

तरात्मदृक्''।इत्यादि२; तब बुद्धिमानमात्रही समझ सकेंगे कि ब्रजनारीगणों ने ब्रजगोपालको ईश्वर अवतार समझके ही उनके चरणोंमें अपने आपको समर्पण किया था। ब्रजगोपिकागणोंने शास्त्र अध्ययन नहीं किये थे, न कृच्छ्र-साध्य तपस्याओं का साधन किया था, और न "तत्त्वमसि', आदि महावाक्यों का विचार किया था, परंतु केवल श्रीकृष्णचन्द्रके चरणों में अनन्यभक्ति करके ही उस श्रेष्ठ गतिको प्राप्त किया था कि जो बड़े २ योगीन्द्र और मुनींद्र गणों को भी दुर्लभ है॥

ज्ञान और भक्तिके विचार करने में प्रायः विचारक गणोंमें बहुतही गड़बड़ देखने में आती है; ज्ञान के पक्ष-पाती गण यह कहते हैं कि, ज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ है, और ज्ञानके प्राप्त करनेके लिये भक्ति का साधन कर्त्तव्य है; और भक्तिमार्गके विचारकगण यह प्रमाण करने लगते हैं कि, ज्ञान की कुछ आवश्यकता नहीं है जो कुछ है सो भक्ति ही है; और कोई कोई साम्यवादी यह विचारते हैं कि भक्ति और ज्ञान एक दूसरेसे मिला हुआ है। परंतु भली भांति विचारनेसे यही सिद्धान्त होगा कि "ज्ञान" जानने को कहते हैं, जब कोई मनुष्य किसी और दूसरे मनुष्य के विषय म जान लेता है तबही उससे सम्बन्ध स्थापन कर सक्ता है जब वेद और गुरु वाक्य द्वारा साधक को ईश्वर-संबंधीय ज्ञान होगा तबही वह ईश्वरमें भक्ति स्थापन कर सकेगा। इस विचारके सिद्धान्त करनेके अर्थ भक्ताग्रगण्य महर्षि शाण्डिल्यजीने अपने भक्तिसूत्रोंमें कहा है कि, "ज्ञानमितिचेन्नद्विषतोऽपि ज्ञानस्य तदसंस्थिते।" अर्थात् ईश्वरविषयक ज्ञान विशेष का नाम भक्ति नहीं है, क्योंकि द्वेषी पुरुषमें भी ज्ञान होताहै; विचारिये कि किसी मनुष्य

को अपने शत्रुका विशेष ज्ञान है, वह भली भांति जानता है कि, हमारे शत्रुकी ऐसी मूर्ति है और उसमें ऐसे गुण और यह अवगुण भरे हुए हैं, तो इससे क्या उसकी प्रीति शत्रुमें हो जायगी ? कभी नहीं । इससे यह सिद्ध हुआ कि, न तो भक्तिका फल ज्ञान है और न ज्ञानका फल भक्ति, परन्तु यह कह सक्ते हैं कि, ज्ञान भक्तिका सहायक है; अर्थात् ईश्वर संबंधीय ज्ञानसे भक्तके हृदयमें भक्तिकी वृद्धि हो सक्ती है । पुनः महर्षिजीने लिखा है कि, "तयोपक्ष-पाच्च" ; अर्थात् संपूर्ण भक्तिका उदय होनेसे ज्ञानका संपूर्ण नाश हो जाता है, भक्तिमार्गके आचार्य्यगणोंका यही अनुभव है कि, जब भक्तका ईश्वरमें पूर्ण अनुराग (जिसको पराभक्ति कहते हैं) होजाता है तब उसके बीचमें और उसके प्रियतम प्रभुके बीचमें कोई पृथक् अस्थित्व नहीं रहता; तो जब कोई पृथक् अस्थित्वका भान नहीं रहा तब उस अवस्थामें आपही ज्ञानका लोप हो जाता है । इससे यही सिद्धान्त होता है कि, भक्ति और ज्ञान एक दूसरेसे मिला हुआ नहीं रहसक्ता । इस कारणही महर्षिजीने कहा है कि, " न क्रियाकृत्यनपेक्षणाज्ज्ञानवत् " ; अर्थात् जिसप्रकार अभ्यास करनेसे ज्ञान प्राप्त हो सकता है उस प्रकार भक्ति अभ्यस्त कर लेनेकी वस्तु नहीं है; वेद-वाक्य और गुरुउपदेश द्वारा साधक विचार करते २ ईश्वर संब-न्धीय ज्ञानको प्राप्त कर सकता है, परन्तु भक्तिका उदय तबही कहा जासक्ता है जब साधकका मन उस अनिर्वच-नीय रूपमें मोहित होकर लय होजाय, और इस कारणही भक्तिके आचार्य्यगणोंने कहा है कि, ज्ञान तो साधनका अंगस्वरूप है परंतु भक्तिको साधनका प्राणस्वरूप कह सक्ते हैं ॥

अवस्थाभेदसे भक्ति दो प्रकारकी है, यथा गौणीभक्ति और पराभक्ति। जब कोई इच्छा करके ईश्वरमें भक्ति की जाय तब उसे गौणीभक्ति कहते हैं परन्तु बिनाही किसी कामनाके जब स्वतःही साधकका मन भगवत् प्रेममें मग्न होजाता है तबही उसको पराभक्ति कहते हैं। श्रीभगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीतामें जो निज मुखसे अर्थार्थी, जिज्ञासु, आर्त्त और ज्ञानी, यह चार प्रकारके भक्तोंका वर्णन किया है; उनमेंसे तीन प्रकारकी भक्तिको गौणीभक्ति और एक प्रकारकी भक्तिको पराभक्ति कह सकते हैं। क्योंकि गौणीभक्ति जीव अवस्थाका साधन है इस कारण उसमें सत्त्व, रज और तमके भेदसे तीन अवस्था होना उचित है, इस विषयमें भक्ताग्रगण्य महर्षि नारदने कहा है कि, "ओं गौणी त्रिधा गुणभेदादार्त्तादिभेदाद्वा," एवम् "ओं उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति" अर्थात् गुण भेदसे आर्त्तादि तीन प्रकारकी गौणी भक्ति होती है और पूर्वापर उनमें छुटाई बडाई है। जब जीव विपत्तिसे उद्धार होनेके अर्थ भगवान्में भक्ति करता है तो उसका नाम आर्त्तभक्त है; जब भगवततत्त्व जाननेके अर्थ जिज्ञासु ईश्वर, शास्त्र और गुरुमें जो भक्ति करता है तब उसका नाम जिज्ञासुभक्त है; और जब किसी कामनाके सिद्ध करनेके अर्थ जब जीवकी ईश्वरमें भक्ति होती है तब उस भक्तको अर्थार्थीभक्त कहते हैं; प्रथम आर्त्तभक्त सात्त्विकी, द्वितीय जिज्ञासुभक्त राजसी, और तृतीय अर्थार्थी तामसी भक्त कहाते हैं; और गुण भेदसे यह भक्त उत्तम, मध्यम और अधम हैं। परन्तु चतुर्थ प्रकारका ज्ञानीभक्त ही पराभक्तिका अधिकारी है और उस ही ऐकान्तिकी अथवा पराभक्तिके समझानेके अर्थ ही श्रीमद्भगवद्गीतामें "अन-

न्याश्चिन्तयन्तोमां"--"योमांपश्यतिसर्वत्र"--"तमेव शरणं गच्छ"--"सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" आदि वाक्यों का प्रयोग श्रीभगवान् ने किया है और महर्षि नारदजी ने भी कहा है कि "भक्ता ऐकान्तिनो मुख्याः" अर्थात् ऐकान्ती वा अनन्यभक्त ही सब से श्रेष्ठ है, जिस अधिकार के प्राप्त करते ही मनुष्य सिद्ध होजाता है, अमृत होजाता है और पूर्ण तृप्ति को लाभ करलेता है, और इस अवस्थाका उदय होते ही भक्त परमानन्दरूप होजाता है और उसे एकमात्र भगवान्-भान के सिवाय और कुछ भी अनुभव नहीं रहता।

भक्तिका रूप एक ही होने पर भी शास्त्रोंमें उसके आकार एकादश लिखे हैं यथा भक्ताग्रगण्य महर्षि नारदजी ने कहा है कि "ओं गुण माहात्म्यासक्ति १ रूपासक्ति २ पूजासक्ति ३ स्मरणासक्ति ४ दासासक्ति ५ सख्यासक्ति ६ कांतासक्ति ७ वात्सल्यासक्ति ८ आत्मनिवेदनासक्ति ९ तन्मयतासक्ति १० परमविरहासक्ति ११ "रूपाएकधाप्येकादशधा भवति"। इस संसार में जो जिससे प्रीति करता है उसको अपने प्रिय जन की सब चेष्टायें और सकल अंगही सुन्दरता युक्त दिखाई पडते हैं, परन्तु न जाने जीव का कैसा स्वभाव है कि उसकी प्रियवस्तु उसे पूर्ण रूपेण मोहित करने पर भी उसका मन उसके प्रियतमके विशेष २ अंग के सौन्दर्य्य-विशेष में और विशेष २ भाव की चेष्टा-विशेष में अधिक लगता है, और इस विचार से ही आचार्य्यगणोंने भगवद्भक्तिके एकादश रूप वर्णन किये हैं क्योंकि सब भक्तगण ही श्रीभगवान्में पूर्ण रूपेण आसक्त होने पर भी इस प्रकार की चित्तकी वैषम्यताके कारण ही भगवान्के विशेष विशेष भावों में प्रायः विमोहित देख

पडते हैं। प्रथम गुण माहात्म्यासक्तिके उदाहरण पुराण शास्त्रों में बहुत ही पाये जाते हैं जिनमेंसे देवर्षि नारद, वेदव्यास और राजा परीक्षित का उदाहरण सर्वश्रेष्ठ है। द्वितीय रूपासक्तिके उदाहरणमें रानी यशोदा का श्रीभगवान्के बालरूपमें और ब्रजगोपिकागणोंका श्रीभगवान्के किशोररूपमें प्रेम जगत्प्रसिद्ध है। तृतीय पूजासक्ति, श्रीमहाराजा पृथुके नाईं पूजासक्त भक्त कम ही हुए हैं। चतुर्थ स्मरणासक्तिका पूर्णप्रकाश दैत्यकुलतिलक अद्वितीय बालक-भक्त प्रह्लादके चरित्रोंमें हुआ है। पंचम दास्यासक्ति, भक्त-श्रेष्ठहनुमान् और विदुर आदि के दास भावसे ही पुराणोंकी सौन्दर्यता बढी है, यदि दासभक्त हो तो इन की नाईं ही हो। षष्ठ सख्यासक्ति के उदाहरण प्राचीन इतिहासोंमें बहुत देखनेमें आते हैं; अर्जुन, सुग्रीव, उद्धव, कुबेर, और श्रीदाम,आदि सख्यासक्त भक्तों में प्रधान हैं। सप्तम कान्तासक्ति ब्रजकामिनी गणों की कान्तासक्ति भक्तमात्रके ही हृदयमें विराजमान है। अष्टम वात्सल्यासक्तिके साधकगणोंमेंसे महर्षि कश्यप, नन्द, कौशिल्या, यशोदा, और दशरथ आदि प्रसिद्ध हैं। नवम निवेदनासक्तिके उदाहरणमें राजा बलि ही प्रधान हैं। दशम तन्मयासक्ति. देवादिदेव महादेव अभेद--भाव से एकही होने पर उनसे अधिक और किसका उदाहरण मिल सक्ता है। और एकादश विरहासक्ति भाव का प्रकाश श्रीकृष्णचन्द्रके वैकुण्ठ पधारने पर सखा उद्धव और सखी गोपिकागणोंके तीव्र विरह से दैदीप्यमान है॥

भक्तिमार्ग ही सकल मार्गोंसे सुगम है, भक्तिसाधन ही और साधनोंकी अपेक्षा सुलभहै, क्योंकि ईश्वरभक्तिके साधन में न तो विद्यासंग्रह की आवश्यकता है, न धनके व्यय का

प्रयोजन है, न आचार-विचार की मर्यादा है, न वर्णाश्रम की परिपाटी है, न योगाभ्यासकी कठिनता है, और न व्रत-तपस्या की कठोरता है, इसकारण ही आचार्यों ने " ओं अन्यस्मात्सौलभ्यं भक्तौ " ऐसा कह भक्तिमार्गको ही सब मार्गों से सुलभ प्रतिपन्न किया है, यदि परमेश्वर की कृपासे साधक भक्ति का अधिकारी होजाय तो साधनके संपूर्ण वक्र मार्ग पड़े रहते हैं और वह सौभाग्य-वान् साधक उन सबोंको भेदन कर तुरत ही लक्ष्यस्थल पर पहुंच जाताहै। भक्ति कैसे उदय होती है इस का पता कोई भी नहीं लगा सक्ता, परंतु भक्तिमान् साधक इतना ही कहते हैं कि केवल भगवतकृपासे ही भक्ति की प्राप्ति होसक्ती है। जैसे प्रचंडप्रभाशाली मार्तंड अपनी ही किरणों की शक्ति द्वारा पृथिवीसे जल अंश को बाष्पमें परिणत कर आका-शमें आकर्षण करके अपने आप को ढक पृथिवी को घोर अन्धकारमय कर देते हैं, पुनः अपनी ही तेज शक्ति द्वारा उष्णता की वृद्धि कर उन्हीं बाष्परूपी मेघों को वृष्टि-जलमें परिणत करके अपने आपको तममुक्त करते हुए पृथिवी को पूर्व्व रूपसे प्रकाशित किया करते हैं, वैसे ही श्रीभग-वान् अपनी अलौकिक क्रिया द्वारा जीवको मायाम मोहित कर नाना खेल खिलाते हैं, पुनः जीव पर कृपावश हो भक्ति-वारि सिंचन द्वारा उसे पवित्र कर अपनी गोद में उठा अपनेमें मिला लेते हैं। ईश्वरकृपा ही भक्ति के उदय होने का एकमात्र कारण है। महर्षि नारदजीने कहा है कि, " ओं मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवतकृपा लेशाद्वा, " अर्थात् भक्तिके उदय होनेके दो मुख्य कारण हैं, प्रथम महात्मागणों की कृपा और द्वितीय भगवान् की कृपा; परन्तु यह दोनों एक ही पदार्थ हैं क्योंकि भगवत्-

कृपा बिना साधु की कृपा नहीं प्राप्त होती; और न साधुओं की शुभ दृष्टि बिना भगवत्-दर्शन प्राप्त होसक्ता है। श्रीभगवान्ने अपने श्रीमुखसे ही आज्ञा की है कि साधु मेरा ही रूप है। महात्मा जड़भरतजीने राजा रहूगण को उपदेश दिया था कि, " रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा। न छन्दसा नैव जलाग्निसूर्य्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकात् "अर्थात हे रहूगण! भक्ति की सिद्धि न तपस्या द्वारा, न यज्ञ यागादि कर्म्मद्वारा, न गृह छोड़ त्याग-वृत्ति अवलम्बन द्वारा, न वेदान्तपठन द्वारा, न स्नान सन्ध्या तर्पणादि जलदान अग्निहोत्रादि द्वारा और न सूर्य्योपस्थान अथवा ग्रीष्मोपताप सेवन द्वारा प्राप्त होती है; परंतु वह केवल महात्मागणों की पद-धूलि ग्रहण द्वारा ही प्राप्त हुआ करती है। इसी विचार के पुष्ट करने के अर्थ श्रीभगवान्ने निज मुखसे भी परम भक्त अक्रूरजी से आज्ञा की थी कि " नह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः। ते पुनंत्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः " अर्थात् हे अक्रूर! गंगा आदि तीर्थ, शिलामय और मृन्मय देवता जिन लोगों को पवित्र नहीं करते अथवा बहुकाल--विलम्बमें पवित्र किया करते हैं, वे लोग साधुगणोंके दर्शनमात्र ही से पवित्र हो जाते हैं, बाह्य चेष्टा अथवा यत्न द्वारा भगवत्भक्ति लाभ नहीं होती परंतु साधुगणों का अनुग्रह प्राप्त होते ही साधक पर भगवान् की कृपादृष्टि हो जाती है, और तबही उस के हृदयमें भक्ति का उदय होता है। भक्तों ने कहा है कि साधु संग दुर्लभ, अगम्य, और अमोघ है। साधु संग दुर्लभ इसकारणसे है कि यदि साधुसे साक्षात् भी होजाय तो भी अपने मन की मलीनताके कारण संसारी जन साधु को असाधु ही करके समझेंगे, इसीकारण

बिना शुभ अदृष्टके साधुसंग दुर्लभ है । महत्संग इस कारण अगम्य है कि, यदि साधुको साधु करके भी पहिंचान लिया जाय परंतु उनकी साधनसिद्ध अवस्थामें प्रवेश करना अतिशय कठिन है, अर्थात् साधु का भाव बहुत ही अगम्य है । और महात्माओंका समागम अमोघ इस कारण है कि दर्शक, साधुको पहिंचाने अथवा न पहिंचाने परंतु उसको अपने अधिकारके अनुसार उस महत्संग का फल अवश्य होता है । साधुगण सत्त्वगुणावलम्बी होते हैं किन्तु गृहस्थगण रजाश्रित-सत्त्वगुणावलम्बी: अथवा राजसिक वा तामसिक होते हैं किन्तु प्रधानताके कारण सत्त्वगुणके सन्मुख और गुणसमूह स्वतः ही दब जाते हैं, इसकारण साधुसंग द्वारा निम्नगुणावलम्बी गृहस्थगणों-का कुछ न कुछ अवश्यही उपकार हुआकरता है; साधु-संग अमोघ है इसमें सन्देह नहीं । श्रीभगवान्‌जीने निज मुखसे भी कहा है कि "नाहं तिष्ठामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये नच । मद्भक्ता यत्र गायंति तत्र तिष्ठामि नारद" । अर्थात् हे नारद ! न मैं वैकुण्ठमें रहता हूं और न मैं योगीगणोंके हृदयमें वास करता हूं, मेरे भक्तगण जहां मेरे गुणगान किया करते हैं मेरा सदा वहीं निवास जानना; जब भक्तगणमें ही श्रीभगवान्‌का निवास है तब भक्तहीको भगवत्‌रूप समझना चाहिये, जैसे भगवत् महिमा अपारहै वैसे ही साधूकी भी महिमा अपार है ।

भगवद्भक्ति दुर्लभ है इसमें सन्देह नहीं, श्रीभगव-त्कृपा तथा साधुकृपासे ही भगवत्‌भक्ति का उदय हो सकता है । भगवत्‌भक्ति अभाव से परम ज्ञानी मनुष्य-गण भी ईश्वरशक्तिमें सन्देह करने लगते हैं अभ्रान्त सत्य होनेपर भी भगवत्‌भक्तिहीन बुद्धिमान्‌गण सर्व

शक्तिमान् ईश्वर की मूर्ति तथा अवतार आदि लीलामें सन्देह करने लगते हैं । हे भगवत्भक्तिहीन बुद्धिमान् गण ! जिन सर्वशक्तिमान् त्रिलोककर्त्ता जगत्पिता के इंगित मात्रसे हो यह अनन्त ब्रह्माण्ड--समूह उत्पन्न हुए हैं, जिन पूर्णशक्तिधारी जीवत्रितापहारी श्रीभगवान्के अवलोकनमात्र से अनन्त जीव--समूहोंकी रक्षा तथा पालन हो रहा है क्या वे सर्वशक्तिमान् अपने भक्त-की इच्छापूर्ति तथा कल्याणार्थ शरीर धारण करनेमें असमर्थ हो सकते हैं ? यद्दिच उन निर्विकल्प, शाश्वत सत्--चित्--आनन्दमय परमात्मा का यथार्थ में कोई रूप नहीं होसक्ता तत्रच अपने भक्तगणोंके कल्याणार्थ आवश्यकता होनेपर क्या वे शरीर धारण नहीं कर सक्ते ? इसकारण हे श्रीमान् गण ! इस प्रकारका भ्रमपूर्ण जीव-अहितकारी ईश्वर-महिमा--ज्ञानहीन का सा सन्देह अपने अंतःकरणसे दूर करो और भगवत् अतुलनीय शक्तिपर पूर्णविश्वास करके परम कल्याणको प्राप्त होओ इस संसार में दो अवस्थाही दृष्टिगोचर हुआ करती हैं, एक जड दूसरी चेतन, एक अज्ञानपूर्ण और दूसरी ज्ञान-पूर्ण; अज्ञानपूर्ण अवस्था द्वारा सृष्टिका विस्तार और ज्ञानपूर्ण अवस्था द्वारा सृष्टिका नाश तथा परमानन्द-की प्राप्ति हुआ करती है । जब जडमय, सृष्टि विस्तार-कारी अज्ञान--अवस्था का पूर्ण विस्तार होजाता है तभी सृष्टिनियमके अनुसार चेतनमय सृष्टि--लयकारी ज्ञान-पूर्ण अवस्था का पुनः प्रकाश होना सम्भव है। जीवके अन्तःकरणमें भी यह भाव सदा देखनेमें आता है क्योंकि जीव जब अपनी अज्ञानतासे मोहित होकर महा पाप-कर्म्ममें प्रवृत्त होता है तब उसके अन्तःकरणमें बुद्धि

रूपसे जो पापनाशक तथा मोहनाशकारक भावका उदय होता है वह इसी परिवर्त्तन-नियमके आधीन है; जब एकबार जडत्वकी पूर्णता होगी तब अवश्य वह जडता चैतन्यकी ओर लौटेगी। इसी अभ्रान्त सृष्टि-नियमके अनुसार प्रस्तर आदिके रूपसे जीव उन्नत होता हुआ क्रमशः जीवकी उन्नतभूमि मनुष्ययोनिको प्राप्त हो जाता है। इस सृष्टिकौशल पर दृष्टिनिक्षेप करनेसे, इस ईश्वरीय नियम पर ध्यान देनेसे यह माननाही पडेगा कि जब पृथ्वी पर अज्ञानरूप पापका पूर्ण विस्तार हो जाता है तब पूर्णज्ञान-मय अवतारमूर्तिका भी प्रयोजन होवेगा इसमें सन्देहही क्या। सब सन्देह छोडकर पूर्णशक्तिधारी भगवान्की शक्तिकी पूर्णता पर विश्वास करना ही बुद्धिमान्जनगणोंको उचित है; इसप्रकार पूर्णज्ञान तथा पूर्णशक्तियुक्त श्रीभगवान्का ध्यान करता हुआ साधक क्रमशः उन्हींके रूपको प्राप्त हो जाता है। कंचुकी भृङ्ग जब तैलपाई कीटको पकड लेता है बत कुछ कालमें वह तैलपाई कीट उस कंचुकीभृङ्गका ध्यान एकाग्रबुद्धि होकर करता करता अन्तमें कंचुकी भृङ्गही बन जाता है; इस नियमके अनुसार जब एकाग्रतासे बहिर्जगतमें ऐसा परिवर्त्तन दिखाई देने लगता है तो इस एकाग्रताका फल अन्तर्जगतमें होना क्योंकर असम्भव है। गौणीभक्तिसे ही पराभक्ति लाभ होती है; भगवन्नाम जप करते करते, भगवत्के किसी रूपका ध्यान करते २, और भगवत् गुणगान करते २ गौणीभक्तिके अधिकारी साधक पराभक्तिको लाभकर शीघ्रही भगवत्में लय हो जाते हैं। जब भक्त त्रितापसे तापित हो अतिदुःख पाय आंसू बहाय गाने लगता है कि,—
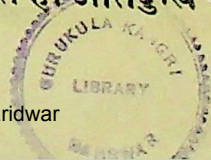
गीत–"करधर, करधर अरी अम्मारी ॥ १ ॥
चलत चलत कित दिन बीतो,
(बिछाडि चलत कित दिन बीतो)
दया तोहिं नहिं आवत (देख !) अरी बौरी ॥ २ ॥
पगहिं चलत घनो दुख पाऊं,
तबही अम्मा अम्मा कह कह पुकारूं,
न जानूं काहेरी तू एक सुनत नाहिं मोरी ॥ ३ ॥
कुपुत्र बहुत जानी,
कुमाता कबहुँ न सुनी ।
न जानी काहे जननी,
तू मोसों इतरातरी ॥ ४ ॥"

जैसे अनेक पुत्रवती गृहस्थपत्नी अपने कई एक संतानोंमें से किसीको झुंझुना, किसीको कोई और खिलौना और किसीको खानेकी वस्तु आदिसे संतुष्टकर भुलाय अपने आप निश्चिन्त हो गृहके कार्य्य करती रहती है, परन्तु उन बालकोंमेंसे जो अपने खेलनेकी वस्तु अथवा खानेकी वस्तुको फेंककर " अम्मा, अम्मा ! " कह रोने लगता है, वह स्नेह मयी जननी उसी पुत्रपर स्नेह कर उसको गोदमें लेलेती है, वैसेही जब त्रितापतापित जीव अपने भुलानेके विषयोंको त्याग जगन्माताको स्मरण कर अश्रुधारा बहाने लगता है तब अवश्यही वह करुणामयी करुणा करके उसे गोदमें लेलेती है । " ओं त्रिसत्यस्यभक्तिरेवगरीयसी भक्तिरेवगरीयसी " । अर्थात् भूत, भविष्यत, वर्त्तमानमें सदा विद्यमान सत्यस्वरूप श्रीभगवान्‌की भक्तिही सबसे श्रेष्ठ है, इसी कारण त्रिकालदर्शी परमभक्त महर्षि नारद आदियोंनें उच्चैःस्वरसे ऊर्द्धबाहु होकर कहा है कि, भक्तिही सबसें श्रेष्ठ है ! भक्तिही सबसे श्रेष्ठ है !!

भक्तिही सबसे श्रेष्ठ है !!!

ॐ सदाशिवायनमः ।

पूज्यपाद महर्षि शाण्डिल्यकृत—

भक्तिदर्शन ।

एवम्

"निगमागमी" भक्तिदर्शनभाष्यम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

प्रथमाह्निकः ।

ॐ अथातोभक्तिजिज्ञासा ॥ १ ॥

ॐकार उच्चारण करके भक्तिमार्गका विचार किया जाता है ॥ १ ॥

परमज्ञानी और भक्ताग्रगण्य महर्षि शांडिल्यजी प्रथम कर्म्मकाण्डकी पुनः ज्ञानकाण्डकी भलीभांति व्याख्या करके तत्पश्चात् अब भक्तिकाण्डका वर्णन करनेमें प्रवृत्त होते हैं । बिना कर्म्म किये ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती, और ज्ञानही भक्तिका प्रधान सहायक है; इसकारण त्रिकालदर्शी महर्षि ने प्रथम उन दोनों मार्गोंका वर्णन कर अब इस सूत्र द्वारा जीव-हितकारी भक्तिमार्गके वर्णन करनेकी सूचना की है । वेदने प्रणवको ईश्वरका वाचक कहा है इसकारण महर्षि

सूत्रकार वाचक द्वारा वाच्यको स्मरण करके उनकी भक्ति वर्णन में प्रवृत्त होते हैं ॥

सापरानुरक्तिरीश्वरे ॥ २ ॥

ईश्वरके प्रति सम्पूर्ण अनुरागका नाम भक्ति है ॥ २ ॥

जब समस्त प्रपञ्च विषयोंसे मन हटके एकमात्र ईश्वरमें ही लगजाता है और जब साधकको केवल भगवत् चिंतनके और कुछभी नहीं भाता, ईश्वरमें उसी अनन्य प्रेमका नाम भक्ति है। भक्ति शब्द भी अनुरागवाचक है; जिस प्रकार पिता माता आदि गुरुजनोंमें अनुरागको श्रद्धा, बन्धु और स्त्रीमें अनुराग को प्रेम, और पुत्र, कन्या आदि में अनुरागको स्नेह कहते हैं; उसी प्रकार जगत्कर्त्ता त्रितापहर्त्ता भक्तमनरञ्जन श्रीभगवान्में अनुरागको भक्ति कहते हैं। यद्दिच भक्ति शब्द केवल ईश्वर अनुरागका ही वाचक है, तत्रच सूत्रकार महर्षिके इस सूत्रसे यही तात्पर्य है कि ईश्वरमें अनन्य प्रेम अर्थात् एकान्तकी अनुरागको ही भक्ति कहते हैं। जब भक्तिमान् साधक ईश्वरमें अनुराग स्थापन करता हुआ ऐसी उन्नत अवस्थाको पहुंच जाय कि उसको ईश्वरके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं भावे, वह प्रेमासक्त होकर समस्त जगत्में भगवत् रूप निहारता हुआ और उनके सर्वशक्तिमय गुणातीत गुणोंको स्मरण करता हुआ उन्हींके अतुलनीय प्रेममें सदा मग्न रहता हो तब ही उस साधककी वह उन्नत–अवस्था भक्ति कहावेगी। इस सूत्रसे तात्पर्य्य यही है कि केवल ईश्वरको जान लेना अथवा ईश्वरको कभी २ स्मरण करनेको ईश्वर-भक्ति नहीं कहते; परन्तु जब साधकको सिवाय ईश्वरके और दूसरा भान ही न रहे और उसको यह समस्त प्रपञ्च जगत् ईश्वर-

मय ही प्रतीत हो, जब वह ईश्वर-प्रेमासक्त होकर जागते सोते, उठते बैठते, चलते फिरते सब समयही भगवत्-प्रेममें मग्न रहा करे तबही साधककी उस एकान्तकी-वृत्तिको भक्ति कहेंगे ॥

तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात् ॥ ३ ॥

ऐसा कहा है कि, उनमें चित्त लगजाने से जीव अमृतत्वको प्राप्त होजाताहै ॥ ३ ॥

महात्मागणों ने ऐसा कहा है कि सत् चित् आनन्द रूप श्रीभगवान् अमृत स्वरूप हैं और भगवत्-भक्ति भी अमृत-मयी ही है; जब साधक भक्ति युक्त होकर अपने हृदयनाथमें मिलजाता है तब वह भी अमृत स्वरूप होजाता है । जीव की जबतक बहिर्दृष्टि रहती है तब तक वह नाना विषयों में फँसता हुआ नाना संस्कारोंके साथ नाना योनियोंमें भ्रमण करता रहता है और यह जीव की बहिर्दृष्टि ही उसके जन्म मृत्यु संयोग बियोग आदि त्रितापका कारण है । नाना रूप धारिणी माया परिवर्तनशील है, परन्तु सच्चिदानन्द रूप श्रीभगवान् स्वयं प्रकाश, स्वयं आनन्द और भूत, भविष्यत् बर्तमानकालमें सदाही एक रूप हैं; जब तक जीव माया की लीला भूमि संसारमें फँसा रहता है तब तक वह नाना दुःख भोगता हुआ जन्म मृत्यु रूप पथमें भटकता रहता है, परंतु जब भगवत्-कृपासे उसका हृदय भगवत्--भक्ति युक्त होने पर उसके मन की गति संसारसे फिर कर श्रीभगवान्की ओर लौट जाती है, तबही वह मायाके फन्देसे बच मुक्त हो अमृत रूप होजाताहै । अंहकारसे जीव विषयोंमें अंगत्व स्थापन करता हुआ संसारमें फँसा रहता है, परंतु जब परा-वैराग्य द्वारा जीवका वह बंधनाशिथिल होकर जीवका

मुख संसारकी ओरसे फिर जाता है तबही वह बंधनमुक्त होसकता है। सार्वभौम-मत-युक्त योगदर्शन-प्रणेता महर्षि पतञ्जलिजी ने योगदर्शनमें "ईश्वरप्रणिधानाद्वा" सूत्र द्वारा यह भली भांति सिद्ध करदिखाया है कि ईश्वर-भक्ति से तत्काल ही जीव की मुक्ति होजाती है। यहां अमृत शब्द मुक्ति वाचक है, अर्थात् अमर होने पर जैसे पुनर्मृत्यु नहीं होती उसी प्रकार जीव मुक्त होने पर भी जन्म मृत्यु रूप बंधनसे छूट जाता है। साधकके हृदयमें भक्ति का पूर्ण विकाश होने पर वह ईश्वर को ही प्राणाधिक प्रियतम मान उन्हींके प्रेममें मग्न हो अपना सब कुछ अहंकार सम्बंधीय पुरुषार्थ त्याग देता है; और यह मानलेता है कि जो कुछ हैं सो भगवानही हैं, जो कुछ करते हैं सो वेही करते हैं। इस प्रकार जीव अनन्य भक्तिके उदय होने पर जब अपने आपको भूल जाता है तब उसके हृदय का अहंतत्त्व भी दूर होजाता है;और अहंतत्त्व ही जीवके बंधनका कारण है,इस कारण अहंतत्त्वके नाश से जीव स्वतःही मुक्त होजाता है। भक्ति की उन्नतिके साथ हीसाथ,संसारसम्बन्ध अर्थात् विषयानुराग शिथिल होता जाता है, क्योंकि भक्त तो तब ईश्वर-प्रेमके कारण सिवाय ईश्वरके और किसीमें मन निवेश ही नहीं करता; और विषयकी ओरसे मुख फेरना ही परा-वैराग्य है; इस कारण भक्तिके प्रभावसे परा--वैराग्य के उदय होने पर स्वतःही अहंतत्त्व के नाशके साथ संसार सम्बन्धका नाश होकर जीव मुक्ति-पद का अधिकारी होजाता है इस सूत्र का यही तात्पर्य्य है कि भक्ति द्वारा जब जीव का चित्त समुद्र में वारि-बिन्दु की नाई ईश्वरमें मिल जाता है तबही वह त्रिताप-तापित-जीव त्रितापसे मुक्त हो अमृतपद को प्राप्त करलेता है; भक्ति ही मुक्तिपद

प्राप्ति का साक्षात् कारण है; भक्ति ही अमृत रूप अर्थात् मुक्ति रूप है ॥

ज्ञानमितिचेन्नद्विषतोऽपिज्ञानस्यतदसंस्थितेः ॥४॥

ईश्वर सम्बन्धीय ज्ञान विशेष का नाम भक्ति नहीं है; द्वेषी पुरुष को भी ज्ञान होता है परन्तु उसमें प्रीति नहीं होती ॥ ४ ॥

अब जिज्ञासुगणोंके हृदयमें यदि यह सन्देह हो कि जब शास्त्रोंमें ऐसा भी वाक्य देखते हैं कि "ज्ञानसे ही मुक्तिकी प्राप्ति होती है" तब क्या भक्ति और ज्ञान एक पदार्थ हैं ? यदि नहीं है तो इन दोनोंमेंसे किसको मुक्तिका साक्षात् कारण मानेंगे ? इत्यादि शंकाओंके दूर करनेके अर्थ महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि ईश्वर सम्बन्धीय ज्ञान विशेषका नाम भक्ति नहीं है, क्योंकि द्वेषी पुरुषमें भी ज्ञान होता है परन्तु द्वेषी पुरुषमें प्रीति नहीं होती। किसी मनुष्यको अपने शत्रुका विशेष ज्ञान है; वह भली भांति जानता है कि मेरे शत्रुमें ऐसे गुण और अमुक दोष हैं और उसका ऐसा स्वरूप है, तो क्या इस जाननेसे उसकी प्रीति शत्रुमें होजायगी ? इस प्रकार यदि ज्ञानवान् पंडित शास्त्र-द्वारा जान जाय कि ईश्वर सर्व्व शक्तिमान्, सत्-चित्-आनन्द रूप और सर्वव्यापक आदि गुणोंसे युक्त है, तो क्या उन पंडित महाशय की ऐसे ज्ञानसे भगवत्में प्रीति होजायगी ? इस कारण यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर-ज्ञान और ईश्वर-भक्ति एक पदार्थ नहीं है; भक्ति, ज्ञान-भूमिसे बहुतही उच्चतर भूमिका पदार्थ है। पूर्व्व सूत्रोंमें जब यह सिद्ध हो चुका है कि ईश्वर-तद्गत-अवस्थाको ही भक्ति कहते हैं और भक्तिसे ही मुक्ति की प्राप्ति होती है, और पुनराय अब

यह सिद्ध हुआ कि भक्ति ज्ञानभूमिसे उन्नत भूमिका पदार्थ है तो यह माननाही पड़ेगा कि मुक्तिपदसे भक्ति का ही साक्षात सम्बन्ध है । ईश्वर-ज्ञानसे ईश्वरमें भक्ति वृद्धि होने की सहायता हुआ करती है; क्योंकि संसारमें ऐसा देखनेमें आता है कि प्रथम पदार्थ विशेष का ज्ञान होता है और पीछे उसमें प्रीति जमती है; और यह भी देखनेमें आता है कि जितना ज्ञान प्रियवस्तुका अधिक होता जाता है उतनी ही प्रीतिकी दृढता होतीजाती है;इस कारण यह मान सकते हैं कि ज्ञान मुक्ति का परंपराय कारण है परन्तु साक्षात् कारण नहीं होसकता । एकमात्र भक्ति को ही मुक्तिका साक्षात् कारण कह सकते हैं ॥

इस प्रकारके मत भेदोंको सुनकर जिज्ञासुगणोंके हृदयमें नाना सन्देह उठ सकते हैं; क्योंकि जब वे देखते हैं कि मीमांसादर्शन कर्म्मको ही मुक्ति का कारण सिद्ध करता है, पुनः जब वे देखते है कि सांख्यदर्शन उसका खंडन कर रहा है; तद्पश्चात् वे देखते हैं कि वेदान्तदर्शन ज्ञानकोही मुक्तिका साक्षात् कारण प्रमाणित करता है, पुनः देख रहे है कि भक्तिदर्शन इस मतका खंडन कर रहा है; तो स्वतः ही वे विचलित होंगे । परन्तु यथार्थमें नाना महर्षियोंके इन नाना सिद्धान्तोंमें कोई भी भेद नहीं है; जो कुछ भेद है वह साधकके अधिकारका है; जो कुछ भेद है वह अधि-कार भूमिका है, इनमें जो कुछ भेद है वह परंपराय कारण का है, किन्तु मूल लक्षमें कोई भी भेद नहीं । जो दार्शनिक निष्काम-कर्म्मसे मुक्ति होना स्वीकार करते हैं वे ऐसा सिद्ध करते हैं कि निष्काम-कर्म्मके साधनमें जीवके बन्धन रज्जु अहंकारके नाश होजानेसे वे पुनराय बन्धन प्राप्त नहीं होते और क्रमशः प्रारब्ध भोगते हुए मुक्तिपदको

पहुंच जाते हैं उसी प्रकार जो दार्शनिक ज्ञानको मुक्तिका कारण मानते हैं वे ऐसा प्रमाणित करते हैं कि अविद्या अज्ञान ही जीवके बन्धनका कारण है प्रकाशमय ज्ञानके उदयसे तमोमय अविद्या अर्थात् अज्ञान नहीं रहेगा तब आपही जीव मुक्त हो जायगा। और उसी रीति पर यह दर्शन शास्त्र कह रहा है कि ईश्वर तद्गत भाव ही भक्ति है, ज्ञान अवस्थामें यह ईश्वर यह अनीश्वर ऐसा भेद रहता है परन्तु भक्ति रूप तद्गत भावमें वह बिचार नहीं रहता इस कारण भक्ति ही मुक्तिपदसे साक्षात् सम्बन्ध रखती है इस शरीरमें शरीर-पोषणकारी-यन्त्रोंका बिचार करते समय जैसे कोई भावुक तो यह कहता हो कि रक्त प्रसुत-कारी हृदययन्त्र ही शरीरका प्रधान रक्षक है, कोई भावुक यह कहे कि नहीं भुक्त-अन्न परिपाककारी पाकस्थली-यन्त्र ही शरीरका प्रधान रक्षक है, और कोई भावुक यह कहते हों कि नहीं प्रथम सहायक मुख ही शरीर का प्रधान रक्षक है; जैसे यह तीनों भावुक यथार्थ ही कहते हैं परन्तु तीनोंमें ही बिचार भूमिका भेद है; वैसेही यह तीनों दार्शनिक यथावत् ही कहते हैं परन्तु विचार भूमिके भेद होने के कारण मतभेद प्रतीत होता है। जैसे शरीर रक्षा विषय में शरीर रक्षक अन्न इन तीनों यन्त्रों में होकर ही शरीर की रक्षा करता है परन्तु भूमि तीनों की परंपराय सम्बन्ध से पृथक् २ है; वसेही मुक्त आत्मा पुरुष मुक्तिपदमें पहुंचते समय इन तीनों अवस्थाओं में होकर तब उस पदमें पहुंचेगा इसमें कोई भी सन्देह नहीं, परन्तु परंपराय सम्बन्ध से तीनों अवस्थाओंमें भूमि भेद होनेसेवे परस्पर बिरोधी प्रतीत होती हैं। जैसे भुक्तअन्न प्रथम मुख द्वारा पाकस्थली, पाकस्थली द्वारा हृदियन्त्र और पुनः हृदयसे समस्त शरीरमें रक्तरूपेण

परिणत होकर शरीर की रक्षा करता है; वैसेही मुक्तिपद-गामी पुरुष प्रथम निष्कामी होकर अहंकार का नाश करता हुआ बुद्धि राज्यमें पहुँच जाता है, वहां निरहंकृत पुरुष स्वतः ही शुद्ध-बुद्धि-युक्त होकर आत्म--साक्षात्कार करने लगता है, और तद्पश्चात् आत्म--साक्षात् अर्थात् भगवत्--दर्शन करते करते पराभक्ति द्वारा भगवत्--तद्गत--भाव को धारण करके मुक्तिपद अधिकारी होजाता है। तीनों अवस्थाओंमें लक्ष्य एक होने पर भी, तीनों अवस्थाओं की गति एक होने पर भी तीनों भूमियों की पृथकूताहै; इसमें कोई भी सन्देह नहीं परन्तु उसके साथही साथ यह भी निश्चय ह कि इन तीनों अवस्थाओं का इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि जो पुरुष इन तीनों अवस्थाओंमेंसे किसीमें पहुँच जायगा वह इन तीनोंसे पार होकर मुक्तिपदका अधिकारी होजायगा; चाहे साधक निष्काम-कर्म्म द्वारा अहंकारको दूर करले तोभी वह ज्ञान और भक्ति भूमिमें पहुँचकर मुक्त होजायगा, चाहे ज्ञानभूमिमें पहुंचजाय तो भी अहंकारका नाश और भगवत्-प्रेम प्राप्त होता हुआ मुक्तिपदका अधिकारी होजायगा, अथवा चाहे भगवद् कृपासे एक बारही भक्ति-भूमिका अधिकारीहो जायतो स्वतःही कर्म्म-भूमि और ज्ञान-भूमि को अधिकृत करके भगवत्-तद्गत्-भावको प्राप्त करता हुआ मुक्त होजायगा इस विचारको और रीति परभी समझ सकते हैं कि निष्काम-अवस्था अहंतत्त्व-भूमिका भाव है, ज्ञान-अवस्था प्रकाशमय महत्तत्त्व भूमिका भाव है, और पराभक्ति महत्तत्त्व-की शेष अवस्था भगवत्रूपमय परमानन्द की चरम सीमा है ॥

तयोपक्षयाच्च ॥ ५ ॥

क्योंकि पूर्ण रूपसे भक्तिका उदय होते ही ज्ञानका नाश होजाताहै॥५॥

प्रेममय भगवान्में जब भक्तका अनुराग दृढ होजाता है तब वह भक्त अपने आपे को भूल जाता है; पराभक्तिके लक्षणमें भक्तिशास्त्र के आचार्य्यगणोंने यही सिद्धान्त किया है कि जब साधकमें ऐसा अनन्य प्रेमका उदय हो कि इस चराचर ब्रह्माण्डमें उसको अपने हृदयनाथके सिवाय और कुछ भी न दिखाई दे, वह जो देखे सो सबही ईश्वरमय देखे, जो सुने सो सबही ईश्वरमय सुने, और जो मनन करे सो सबभी ईश्वरमय ही करे, तबही जानना उचित है कि भक्त में यथार्थ पराभक्तिका उदय हुआ है । ज्ञाताको जब तक ज्ञाता और ज्ञेय दोनोंका अनुभव रहता है तबही तक मध्यवर्ती ज्ञानकी भी स्थिति है, परन्तु जब प्रेम इतना बढजाय कि ज्ञाता और ज्ञेयकी स्वतन्त्रताका नाश होकर एकही रूप होजाय तब वह मध्यवर्ती ज्ञान कहां रह सकता है। सब ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय मिलकर तीनोंमें एक अवस्था होजाती है। इस सूत्रसे पूर्व सूत्रकी ओर दृढता स्थापन हुई, और यह भी प्रमाण हुआ कि यथार्थ भक्तिके उदय होते ही ज्ञानका नाश होजाता है और तब भक्त भगवत्-प्रेममें लय होजाता है॥

द्वेषप्रतिपक्षभावाद्रसशब्दाच्च रागः ॥ ६ ॥

द्वेषका प्रतिकूल और रस शब्द का प्रतिपादक होनेके कारण भक्तिका नामही अनुराग है ॥ ६ ॥

जिस मनुष्यमें वा जिस विषयमें द्वेष होता है वहां प्रीतिकी गति नहीं हो सकती, इस कारण द्वेष और प्रीति

(अर्थात् अनुराग) में परस्पर विरुद्धता है उसी रीतिके अनुसार भक्ति द्वेषसे प्रतिकूल और अनुराग के अनुकूल होनेके कारण भक्तिका नामभी अनुराग है । इस सूत्रका यह भी तात्पर्य है कि द्वेषी पुरुषभी जिस रसहीन ज्ञानके अधिकारी होसकते हैं उस शुष्क ज्ञानके बीच भक्तिका सरस मधुर प्रकाश कैसे हो सकता है । भक्ति एक स्वतंत्र अद्भुत और अति मधुर पदार्थ है ।

नक्रियाकृत्यनपेक्षणाज्ज्ञानवत् ॥ ७ ॥

वह ज्ञानकी नाईं अनुष्ठानकर्ताके आधीन नहीं है ॥ ७ ॥

पूर्व सूत्रोंमें महर्षि सूत्रकारजीने भक्ति का यथावत् स्वरूप दिखायकर अब भक्ति प्राप्ति करनेकी विलक्षणता दिखा रहे हैं । और कह रहे हैं कि जिस प्रकार ज्ञान अनुष्ठान कर्ताके आधीन है भक्तिका उदय होना वैसा नहीं है । क्योंकि गुरु उपदेश द्वारा विचार पथमें अग्रसर होता हुआ अथवा गुरु उपदिष्ट क्रिया द्वारा पुरुषार्थ करते करते, अथवा वेद विहित कर्म्म साधन करते करते जिस प्रकार साधक गण ज्ञानके अधिकारी होसकते हैं;उसप्रकार केवल पुरुषार्थ द्वारा भक्ति की प्राप्ति नहीं होसकती।साधक चाहे कैसाही अधिकारी हो परन्तु यदि वह परिश्रमी और गुरु तथा वेद वाक्य का विश्वासी हो तो शनैः शनैः परिश्रम द्वारा वह ज्ञान लाभ कर सकता है; परन्तु इस प्रकारके कोई भी लौकिक पुरुषार्थ द्वारा भक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती;यही भक्ति की और भी विलक्षणता है । जहांतक बुद्धिका राज्य है, जहांतक ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेयका सम्बन्ध है वहीं तक पुरुषार्थ का अधिकार विस्तृत हो सकता है; परन्तु भक्तिकी भूमि ज्ञानभूमि से परे है, भक्ति का रूप ज्ञाता, ज्ञान और

ज्ञेयके रूपसे स्वतंत्र, सदा अखंड भावमें स्थित है इस कारण पुरुषार्थ द्वारा उसकी प्राप्ति नहीं होसकती । जहां तक ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेयका सम्बन्ध है वहांतक प्रकृतिका राज्य है इस कारण प्रकृतिके राज्यमें पुरुषार्थ रूपी प्राकृतिक सहायतासे उन्नत अधिकार प्राप्त होसकता है; परन्तु भक्तिभूमि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयसे अतीत होनेके कारण वह अनुरूप भक्तिभाव ईश्वर राज्यका पदार्थ है; इस कारण विना पुरुष अर्थात् ईश्वरकी कृपाके भक्तिकी प्राप्ति नहीं होसकती, यही भक्तिकी विलक्षणता है । भक्ति एक स्वतंत्र, अलौकिक और अपूर्व्व आनन्दमय पदार्थ है, जो केवल मनकी स्वतंत्र और एक विलक्षण गतिसे ही उत्पन्न होती है; प्रेममय श्रीभगवान् जब जीवके हृदय पर करुणा-वारि वर्षाते हैं तबही उसके अन्तःकरणमें स्वतःही भक्तिप्रवाह बहने लगता है प्रेममयी=भक्ति विना प्रेममय ईश्वरकी कृपाके नहीं प्राप्त होती ॥

अत एव फलानन्त्यम् ॥ ८ ॥

इस कारण भक्तिका फल आनन्त्य है ॥ ८ ॥

मनुष्यकी शक्ति सदा परिवर्तनशील है इस कारण मनुष्य शक्तिके कार्य्य भी सदा एक रूप नहीं होसकते; आज साधक जिस पुरुषार्थके साथ साधन कर रहा है कल अवस्था भेदसे उसके पुरुषार्थम न्यूनता होसकती है । परन्तु भक्तिमें उस प्रकार परिवर्तन होनेकी सम्भावना नहीं; क्योंकि साधनादिकी उन्नति मानुषीय पुरुषार्थसे सम्बन्ध रखती है इस कारण अनिश्चित है, और भक्ति केवल ईश्वरकी कृपासे ही संबन्ध रखती है; इस कारण निश्चित है । जीवशक्ति ’कोचित और असम्पूर्ण है इस कारण जीवके पुरुषार्थका

फलभी संकोचित और अनिश्चित होना सम्भव है; परन्तु जो भक्तिकी प्राप्ति सर्वशक्तिमान श्रीभगवानकी कृपासे ही हुआ करती है वह सदा निश्चित, पूर्ण और अनन्त फलप्रद ही है । भक्तिके उदय होनेमें विलक्षणता और कठिनता है; परन्तु जब भगवत् कृपासे उसका एक बार उदय होजाता है तब तो भगवत्कृपा रूपिणी भक्ति सदा पूर्ण और अनन्त फल प्रदायिनीही बनी रहतीहै, इसमें कोई भी सन्देह नहीं॥

तद्वतःप्रपत्तिशब्दाच्च नज्ञानमितरप्रपत्तिवत् ॥ ९ ॥

ज्ञानीगण भी शरणागत होते हैं और ज्ञानहीनको भी भक्तिकी प्राप्ति होसकती है ॥ ९ ॥

पूर्व्व सूत्रोंमें भक्ति प्राप्त करनेकी विलक्षणता, और भक्तिके गुणोंकी अनन्तता दिखायकर; अब इस सूत्र द्वारा महर्षि सूत्रकार भक्तिका सार्व्वभौम भाव और उसकी प्रधानता सिद्ध कर रहे हैं । कर्म्मवादीगण चाहे कर्म्म करते करते ज्ञानाधिकार द्वारा मुक्तिपदमें पहुंचे, चाहे ज्ञानवादी गण ज्ञान-साधन द्वारा मुक्तिपदका अधिकार करें; परन्तु मुक्तिपद प्राप्त करनेमें सबको ही एक अद्वैत अनन्य अवस्था में पहुंचना पडता है; सब दार्शनिकगणही इस बातको एक मत होकर स्वीकार करते हैं कि ज्ञान-साधन द्वारा जब मनुष्य उच्च अवस्थाको प्राप्त करलेता है तद्पश्चात् वह उन्नत साधक एक अद्वैत ज्ञानरूपी ब्रह्मसद्भाव अवस्थामें पहुंच जाता है इस कारण महर्षि सूत्रकार कहरहे हैं कि ज्ञानीगण भी अपनी कही हुई अनन्य भक्तिको स्वीकार करते हैं; मुक्तिपद प्राप्त करनेके अर्थ उस मतावलम्बी साधक को भी ऐकान्तिकी प्रेमका आश्रय लेना पडता है; अर्थात् उनका कहा हुआ ब्रह्मसद्भाव और अपनी कही हुई

पराभक्ति दोनोंही एक अवस्था है। ज्ञानवादीगण जिस प्रकार स्वीकार करते हैं कि उनके कहेहुए ब्रह्मसद्भाव में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयका लोप होकर एक अद्वैतभाव रहजाता है, ऐसेही अनन्यभाव पराभक्ति का लक्षण है; दोनोंमें ही ज्ञान का नाश होजाता है; इसकारण यह कहना ही पडेगा कि ज्ञानीगणों को भी शेष अवस्थामें पराभक्ति का आश्रय लेना पडता है। जब देखते हैं कि ज्ञानमार्गके प्रधान प्रवर्तक श्रीभगवान वेद व्यासजीने नाना शास्त्र प्रणयन करनेके अनन्तर परम शान्तिलाभार्थ श्रीमद्भागवतमें भक्ति का मधुर प्रवाह प्रवाहित किया है; जब देखते हैं कि ज्ञानमार्गके प्रधान आचार्य्य श्रीभगवान् शंकराचार्य्यजी ने स्तव किया है कि, "सत्यपिभेदापगमे नाथ तवाहं नमामि कीनस्त्वं, सामुद्रो हि तरंगः क्वचिनसमुद्रो न तारंगः"। तब कैसे नहीं कहेंगे कि ज्ञानीगणों को भी शेषमें भक्त होना पडता है। यही भक्ति की प्रधानता है। और विना ज्ञानके भी जीवगण भक्तिके अधिकारी हो सकते हैं इसका प्रमाण तो शास्त्रोंमें बहुतही मिलता है; ब्रजवासिनी गोपिकागणोंने न तो वेद और वेदसम्मत शास्त्रों का पाठ किया था और न " तत्त्वमसि" आदि महावाक्यों का विचार किया था, उसी प्रकार बालक ध्रुवको किसी से भी वेदान्त सिद्धान्तका उपदेश नहीं मिला था; परन्तु इन स्त्रीगणोंको और इस बालकको ऐसी श्रेष्ठ अवस्था की प्राप्ति हुई थी कि जो बडे २ योगी और मुनिगणों को भी दुर्लभ है। भक्ति के अधिकार समभावसे ज्ञानी और अज्ञानी, पुरुष, स्त्री आर बालक तक में रहनेके कारण ही वह भक्ति सार्व्वभौमशक्ति युक्त है। भगवत्कृपा रूपिणी भक्ति की महिमा अपार और विचित्र ही है ॥

सा मुख्येतरापेक्षितत्वात् ॥ १० ॥

सः अर्थात् वह भक्ति ही मुख्य है; क्योंकि और और साधनों में इसकी सहायता लेनी पडती है ॥ १० ॥

महर्षि सूत्रकार अब और विस्तारित रूपेण भक्ति की श्रेष्ठता वर्णन कर रहे हैं । पूर्व्व सूत्रमें यह तो सिद्ध ही हो चुका है कि ज्ञानी को मुक्तिपद प्राप्ति करनेके अर्थ भगवत्-भक्ति रूप अमृतका पान करना ही पडता है; अर्थात् पीछे से ज्ञानी भक्तही होजाताहै;अब महर्षि सूत्रकार यह सिद्ध कर रहे हैं कि वह भक्ति सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि सब साधनों में ही उसकी सहायता लेनी पडती है। जिस प्रकार बिना पराभक्ति प्राप्तिके मुक्तिपद का अधिकार जीव को नहीं हो सकता, उसीप्रकार गौणी-भक्ति की सहायता भी सकल प्रकार के साधकगणोंकोही लेनापडता है;इसी कारण भक्ति की और भी श्रेष्ठता सिद्ध होती है । अधिकार-भेद होनेके कारण जीव की आत्मोन्नतिके अर्थ वेद में नाना प्रकारके साधन वर्णित हैं; जो लक्ष भेदसे दो प्रकारके होते हैं यथा प्रवृत्तिमार्ग सम्बन्धीय साधन और निवृत्तिमार्ग सम्बन्धीय साधन; और पुनः उनमें से निवृत्तिमार्गमें भी अधिकार भेद के कारण चार भेद हैं यथा मंत्रयोग, हठयोग, लय-योग और राजयोग, परन्तु चाहे निवृत्तिमार्गके साधन हों और चाहे प्रवृत्तिमार्गके साधन हों भक्ति की सहायता सब में ही लेनी पडती है।जिसप्रकार बिना उपास्य देवतामें लक्ष जमाये और भक्ति किये सकाम-उपासना, और बिना देव-भक्ति के यज्ञ आदि सकाम कर्म्म सकल सिद्धिको प्राप्त नहीं करते; उसी प्रकार चाहे मंत्रयोग का साधन हो, चाहे हठ-योग का साधन हो,चाहे लययोग का साधन हो और चाहे

राजयोगका साधनहो बिना आत्म-लक्ष जमाये, बिना ध्याता, ध्यान और ध्येय विज्ञान द्वारा ध्येय रूप ईश्वरमें चित्त स्थिर किये, और बिना जगत्कर्त्ता त्रितापहर्त्ता ईश्वरमें विश्वास और भक्ति रक्खे कोई भी साधन उन्नतिको प्राप्त नहीं होसकता। इस कारण सूत्रकार महर्षि युक्ति और प्रमाण द्वारा यही सिद्ध कर रहे हैं कि सब: प्रकारके साधनोंमें भक्ति सहायकारी होनेके कारण भक्ति ही मुख्य है॥

प्रकरणाच्च ॥ ११ ॥

और प्रकरणसे ऐसाही है ॥ ११ ॥

इस संसारमें साधारण रीति पर विचारने पर भी वैसाही पाया जायगा; बिचारनेसे यही प्रमाण होगा कि मनुष्य चाहे किसी प्रकारका कार्य्य करना चाहे बिना दृढ़ अनुरागके वह कार्य्य सिद्धही नहीं होसकता। जब इह-लोकके कार्य्यमें ऐसा देखनेमें आता है तो यह भी स्वतः सिद्ध है कि पारलौकिक कार्य्य भी ईश्वर भक्ति बिना सफल नहीं होगा।ज्ञान आदि और योग आदि क्रियाके आधीन हैं, इस कारण वे साधनके अंग स्वरूप हैं। परंतु ईश्वर-भक्ति सब साधनोंमें प्राण-स्वरूप है जैसे शरीरके सब अंग सुन्दर बने रहें परन्तु शरीरमें प्राण न रहनेसे वह देह किसी कार्य्यके उपयोगी नहीं होता, इस रूपसे भक्तिहीन कोई साधन भी पूर्ण फलदायक नहीं होगा॥

दर्शनफलमितिचेन्न तेनव्यवधानात् ॥ १२ ॥

दर्शन लाभ ही फल नहीं है, क्योंकि उसमें व्यवधान रह जाता है॥ १२ ॥

ज्ञान द्वारा ब्रह्मके दर्शन होते हैं यह श्रुतिसिद्ध है; अर्थात् ज्ञान साधनसे जीवको उस सर्वव्यापक सच्चिदा-

नन्द रूप ब्रह्मका दर्शन होजाता है जो सृष्टिसे परे अद्वैत-रूपसे वर्तमान है; इस प्रकार साधकको ज्ञान ही के द्वारा ब्रह्म अर्थात् निराकार ईश्वरके दर्शन होजाते हैं । उसीप्रकार उपासना और योग आदि साधनसे साधकको ईश्वरके अलौकिक अपूर्व ज्योतिर्मयरूप, अनिर्वचनीय मनोहर सौन्दर्य और अनन्त वैचित्र्यपूर्ण ललित ललाम त्रिभुवन-मोहन-भाव आदि सहित साकार रूपका भी दर्शन हुआ करता है । इस कारण जिज्ञासुगणोंके हृदयमें यदि शंका उठे कि इस प्रकारका भगवत् साक्षात्कारही क्या भक्ति साधनका लक्ष्यहै ? ऐसी शंकाओंके दूर करनेके अर्थ महर्षि सूत्रकार कहरहे कि नहीं; दर्शनलाभ ही भक्ति-साधन का फल नहीं है, क्योंकि दर्शन करते समय व्यवधान रह जाता है । पूर्व विचारोंसे यही सिद्ध होचुका है कि जब साधकके हृदयमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों अवस्था-ओं की स्वातंत्रता मिटकर उसका अन्तःकरण एकमात्र अद्वैत-भावको धारण करलेता है अर्थात् जब अत्यन्त प्रेमा-सक्त वह भक्त अपने प्रियतम प्रभुके अनन्य-प्रेममें बिभोर होकर अनन्य तद्गतभावको प्राप्त होजाता है तबही उसकी अवस्था यथार्थमें भक्ति अवस्था कहाती है । परन्तु चाहे उपासकभक्त उपासना-साधन द्वारा ईश्वरके साकार रूप का दर्शन करे, अथवा ज्ञानीभक्त ज्ञान-साधन द्वारा ईश्वर के निराकार रूपका दर्शन करे; उन दोनों की यह भगवत्-दर्शन-अवस्था एकही है । भगवतसाक्षात्कार करते समय दोनों प्रकारके साधकही अपने अपने ज्ञानकी सहायतासे ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय वृत्तियोंको धारण करतेहुए श्रीभगवान् का दर्शन किया करते हैं;इस कारण भगवत्-दर्शन-अवस्था मेंभी कुछ व्यवधान रहता है, अर्थात् भगवत्-रूप ज्ञेय और

साधक रूप ज्ञाता के बीचमें ज्ञान रूप व्यवधान रहाही करता है । इस कारण महर्षि सूत्रकारका इस सूत्रसे यही तात्पर्य्य है कि भक्तिकी चरम अवस्था अर्थात पराभक्तिका भाव इस दर्शनभावसे और भी उन्नत है; वह अवस्था भक्त की तद्गत अवस्था होनेके कारण उस अवस्थामें और दर्शन अवस्थामें बहुतही भेद है ॥

दृष्टत्वाच्च ॥१३॥

इस प्रकार देखनेमें भी आता है ॥ १३ ॥

अब पूर्व बिचारको दृढ करनेके अर्थ महार्षि सूत्रकार जगतमें दृष्टान्त दिखाकर कह रहे हैं कि देखो जगतमें भी इस प्रकार देखनेमें आता है । बिचारिये कि आपने किसी कामिनीके मनोहर रूप और नाना गुणराशिके वर्णन सुनें तब आपका मन उस स्त्रीमें अनुरक्त हुआ, पुनः जब आपने अपने नेत्रोंसे उस सुन्दरीके दर्शन किये और उसके हाव भाव कटाक्षयुक्त पूर्ण मनोहर मूर्तिको देखा और उसके नाना गुणों की परीक्षा पाई तबही आपकी प्रीति उस स्त्रीमें दृढ हुई । जब आपने उस युवती का वर्णन केवल सुनाही था तव उसके और आपके बीचमें बहुतही व्यवधान था, पुनः जब आपने उसका दर्शन किया तो उस स्त्री का पूर्ण ज्ञान आपको हुआ, इस ज्ञान की प्राप्तिसे उस स्त्रीमें आपके अनुरागकी वृद्धि तो हुई; परन्तु व्यवधान तो भी रहगया । इससे यह भी सिद्ध होता है कि ज्ञानसे ही प्रीति की प्राप्ति हुई न कि प्रीतिसे ज्ञान की प्राप्ति हुई थी; क्योंकि जब आपने उस रमणीके विषयमें सुना तब श्रवण रूप अल्पज्ञान से उस स्त्रीमें आपका अल्पही अनुराग हुआ, पुनः जब आपने उसको देख लिया तो दर्शन रूप विशेष ज्ञानसे आप

में विशेष अनुरागकी सृष्टि हुई । परन्तु अभीतक आपमें और आपकी उस प्रियतमामें व्यवधान रहनेके कारण आपको आनन्दकी प्राप्ति नहीं हुई । जब प्रीति-कर्ता और प्रिय-वस्तु परस्पर मिल जायँगे तबही आनन्द प्राप्ति की सम्भावना है।इसी प्रकार जब तक जीव अपने प्रियतम ईश्वर से मिलकर एक रूप नहीं होजाता तब तक पूर्ण आनन्दकी सम्भावना नहीं,और यह अनन्यभाव की प्राप्ति केवल भक्ति सेही होसकती है ॥

अत एव तदभावाद्बल्लवीनाम् ॥ १४ ॥

ज्ञान विज्ञान आदिके अभाव रहने पर भी व्रजगोपीगण अनुरागके बल से ही मुक्तिके लाभ करनेमें समर्थ हुई थीं ॥ १४ ॥

पूर्व सूत्रोंमें महर्षि सूत्रकारजी भक्ति की श्रेष्ठता दिखाकर अब इस सूत्र द्वारा भक्ति की स्वाधीनता सिद्ध कररहे हैं और कहते हैं कि ब्रजबिलासिनी गोपिकागणोंने न तो ब्रह्मसूत्रोंका श्रवन, मनन और निदिध्यासन किया; था और न कृच्छ्रसाध्य उपासना-मार्ग का साधन किया था, परन्तु केवल अनन्य भक्तिको धारण करके ही उन्होंने मुक्ति पदको प्राप्त कर लिया था; इस कारण ऐसे उदाहरणों से यह सिद्ध ही है कि यदि भगवत् कृपासे जीव एकाएक ही यथार्थ भक्तिका अधिकारी होजाय तो उसको और किसी साधन की अपेक्षा करनी: नहीं पडेगी । साधन मार्ग के प्रधान प्रवर्त्तक, कर्म्म उपासना और ज्ञानमें समता सिद्ध-कारक, योगीराज महर्षि पतञ्जलिजीने अपने योगसूत्रोंमें योग प्राप्ति अर्थात् चित्त-वृत्ति-निरोध रूपी मोक्ष-प्राप्तिके नाना उपाय वर्णन: करते समय यही प्रमाणित कर दिखायाहै कि एक मात्र भगवत्-भक्ति द्वारा ही जीव स्वतः कैवल्य रूपी मुक्तिपद को प्राप्त करलेता है; यदि यथार्थ

भक्त हो तो उसको और किसी साधनकी अपेक्षा नहीं करनी पडेगी, केवल भगवतभक्तिकी सहायतासेही वह भक्त मुक्त होजायगा। यह तो पूर्वही प्रमाणसिद्ध हो चुका है कि ज्ञानीको भी शेषमें भक्त होना पडता है, और यह भी पूर्व सूत्रोंमें प्रतिपन्न हो चुका है कि सकल प्रकारके साधनों में भक्ति की सहायता लेनी पडती है; परन्तु भगवतशक्ति-युक्त-भक्ति किसीके भी आधीन नहीं है यह भी अब प्रमाण और युक्ति द्वारा प्रमाणित हुआ। जैसे भक्तिमय परम कारुणिक भगवान्‌की महिमा और करुणा अपार है, वैसे ही भगवत्-प्रेममयी-भक्तिकी भी शक्तिका पार नहीं॥

भक्त्या जानातीतिचेन्नभिज्ञप्तया साहाय्यात्॥ १९॥

यदि ऐसा कहो कि भक्तिसे ही ज्ञानका उदय होताहै; ऐसा नहीं, क्योंकि ज्ञान भक्तिकी सहायता किया करता है॥ १९॥

यदि जिज्ञासु गणोंके हृदयमें ऐसा सन्देह हो कि भगवत भक्तिसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति होती है और पुनः ज्ञानसे मुक्ति होती है? तो ऐसे पूर्व्व पक्षोंके उत्तरमें महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि ऐसा विचारना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञान भक्तिकी सयायता किया करता है। जब देखते हैं कि ज्ञानकी सहायतासे ही साधकके हृदयमें भक्तिकी उन्नति होती जाती है, जब देखते हैं कि साधक जितना ईश्वरके तत्त्वको ज्ञान द्वारा भलीभाँति समझने लगता है उतनाही अधिक ईश्वर-भक्तिका अधिकारी होता जाता है और जब देखते हैं कि भगवतभक्त जितना ज्ञानवृद्ध होता जाता है, जितना वह परमतत्त्व रूपी ईश्वरके तत्त्वको जानता जाता है उतनाही वह भगवत्-प्रेम-सागरमें निमग्न होता जाता है; तब यही कहना पडेगा कि ज्ञानही भक्तिका

सहायक है । और जब ज्ञान भक्तिका सहायक है तब भक्ति से ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होसकती । क्योंकि जो जिस पदार्थका सहायक है वह उस पदार्थसे उत्पन्न नहीं होसकता यदिच अम्लरस दधिमें भी है तत्रच जब देखते हैं कि अम्लरसकी सहायतासे ही दधि जमा करता है, तब कैसे कहेंगे कि अम्लरस दधिसे उत्पन्न होता है; सहायक-वस्तुसाहाय्य-वस्तुके समकालीन वस्तु है इस कारण उससे उसका उत्पन्न होना असम्भव है । इस विचारसे यह मानना ही पडेगा कि जब ज्ञान भक्तिका सहायक है अर्थात् जब ज्ञान भक्तिकी उन्नतिमें सहायता करता है तब भक्तिका ज्ञानसे उत्पन्न होना असम्भव ही हुआ । ईश्वर-प्रेममयी-भक्ति एक अपूर्व और बिलक्षण पदार्थ है ॥

प्रागुक्तं च ॥ १६ ॥

पूर्व्वमें भी ऐसा कहा गया है ॥ १६ ॥

सूत्रकार महर्षि अपनी युक्तियों से भक्तिकी श्रेष्ठता पूर्व्व सूत्रोंमें भलीभाँति सिद्ध करके, अब इस सूत्र द्वारा पूर्व्ववर्ती नाना आचार्य्यगणोंके मतको स्मरण कराते हुए अपने मतकी और भी दृढता स्थापन कर रहे हैं और कह रहे हैं कि पूर्व्ववर्ती आचार्य्यगणोंने भी ऐसाही कहा है यथा श्री भगवान्के स्वयं श्रीमुखके बचन हैं कि, " ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति, समःसर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्" अर्थात् ब्रह्मभाव प्राप्त करके जब मनुष्य प्रसन्नात्मा होता हुआ सब प्रकारकी बासनाओंको त्यागकर देता है, उस समय सर्व्वभूत में समदर्शी होनेपर वह मेरी पराभक्तिको प्राप्त होता है; श्रीभगवान्के इन वाक्योंका तात्पर्य्य यही है कि सब प्रकारके साधनोंका एक मात्र फल भक्ति है ।

इसी प्रकार भक्तिमार्गके एक प्रधान आचार्य्य देवर्षि नारदजीने भी कहाहै कि "ॐ फल रूपत्वात्" अर्थात् वह भक्ति सब साधनोंका फल रूप है ॥

एतेन विकल्पोऽपि प्रत्युक्तः ॥ १७ ॥

इससे विकल्पका नाश भी होगया ॥ १७ ॥

जिस पदार्थमें सन्देहहो उसको प्रमाण करनेमें अनुमान और आप्त वाक्योंकी आवश्यकता होती है; अर्थात् जब किसी विषयको निश्चय करना पडता है तब प्रथमतो युक्तिद्वारा उसको अनुमान सिद्ध कर लिया जाता है, और तत्पश्चात् यदि त्रिकालदर्शी महात्माओंके आप्त वाक्य भी उस युक्तिमें मिलते हुए पाये जायें तो विचार की पूर्ण दृढ़ता होजाजी है। और और प्रधान प्रधान दर्शनकारोंने भी अप्रत्यक्ष पदार्थको सिद्ध करनेके अर्थ अनुमान-प्रमाण और आप्त-प्रमाण कीही सहायतालीहै। इस कारण महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि जब युक्तिद्वारा भी यह भली भाँति सिद्ध होगया कि भक्ति ही सर्व्वोपरि प्रधान है, और पुनः आप्त वाक्य द्वारा भी वही निर्णय हुआ, तब अब कोई भी विकल्प नहीं रहा। भक्ति ही सबमें श्रेष्ठ है इसमें कोई भी सन्देह शेष नहीं रह गया ॥

देवभक्तिरितरस्मिन् साहचर्य्यात् ॥ १८ ॥

ईश्वर में भक्तिके सिवाय और देवताओं की जो भक्ति है वह पराभक्ति नहीं होसकती, क्योंकि इस प्रकार की भक्ति की नाईं और और स्थानों में भी भक्ति देख पडती है ॥ १८ ॥

अब इस सूत्रद्वरा महर्षि सूत्रकार यथार्थ भक्तिकी विरोधी और वृत्तियोंके वर्णन द्वारा, और उन वृत्तियोंकी निकृष्टता

प्रमाण द्वारा अमृतमयी यथार्थ भक्तिके अभिलाषी साधक गणोंको सावधान कर रहे हैं। और कह रहे हैं कि ईश्वर भक्तिके सिवाय और देवताओंमें जो पक्षपाती भक्ति की-जाती है वह यथार्थमें पराभक्ति नहीं है; क्योंकि इसप्रकारकी बृत्ति की नाईं और और स्थानों में भी नाना बृत्तियां देख पडती हैं। किसी देवताका पक्षपाती उपासक जब अपने देव-तामें श्रद्धायुक्त होकर ऐसा बिचारने लगे कि मेरा इष्ट देवताही सर्वोत्तम देवता है और अन्यान्य देवता निकृष्ट हैं; तो उस पक्षपाती साधक की वह पक्षपाती देवभक्ति यथार्थ में भक्ति नहीं है, क्योंकि उस साधक की जिस प्रकार पक्ष-पाती श्रद्धा है वैसी श्रद्धा अथवा प्रीति संसारमें औरभी नाना स्थानोंमें देख पड़ती है। मनुष्यगण जिस प्रकार पक्षपाती होकर अपनेही पितामें पितृभक्ति, अपनीही मातामें मातृभक्ति, अपनेही गुरुमें गुरु-भक्ति आदि पक्षपातीवृत्तियुक्त हुआ करते हैं पक्षपाती नाना उपासकगणोंकी वह एकदेशीय पक्षपाती-देवभक्ति भी उसी रीति परही है। इस सूत्रका यही तात्पर्य्य है कि निम्न अधिकारी साधकगण जो समझा करते हैं कि जो कुछ है सो मेराही इष्ट देवता है और अविशिष्ट देवतागण घृणाके योग्य हैं, वह साधककी पक्षपाती लघुबृत्ति यथार्थ में भक्ति पद वाच्य नहीं होसकती; परंच जब एक मात्र सर्वशक्तिमान् जगत्कर्ता जानकर श्रीभगवान्के चरण कमलमें बिकल्प शून्य होकर प्रेममय सधाक जो दृढ़ और ऐकान्तकी भक्ति करता हैं उसीको यथार्थ भक्ति कहते हैं॥

योगस्तूभयार्थमपेक्षणात्प्रयाजवत् ॥ १९ ॥

और योग तो वाजपेय यज्ञमें प्रयाजकी नाईं भक्ति और ज्ञानका अंग स्वरूप है ॥ १९ ॥

योगशास्त्र प्रणेता योगीराज महर्षि पतञ्जलिजी ने यदिच चित्तवृत्ति निरोध होजानेसे जो निर्बिकल्प समाधि रूप फलकी प्राप्ति होती है उसी अवस्था का नाम योग कहा है, तत्रच जिस प्रकार भक्तिके गौणीभक्ति और पराभक्ति नाम से दो भेद हैं उसी प्रकार योग के भी समाधियोग और साधनयोग नामसे दो भेद हैं । इस सूत्रमें महर्षि सूत्रकार साधनयोग को लक्ष करके कह रहे हैं कि योग तो बाजपेय-यज्ञमें प्रयाज की नाईं भक्ति और ज्ञानका अंग स्वरूप है । जिस प्रकार प्रयाजसे वाजपेययज्ञका सम्बन्ध है उसी प्रकार योगसाधन भी: भक्तिसाधन और ज्ञानसाधन इन उभय की ही सहायता किया करता है । जब साधकगण योग-साधन द्वारा इंद्रियोंको वशीभूत कर मनके ठहराने की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं तबही साधकमें ज्ञान अथवा भक्ति की स्फूर्ति होने लगती है;क्योंकि मनके ठहरने से ही बुद्धि की निर्मलता होती है और निर्मल बुद्धि ही ब्रह्मज्ञान को धारण कर सकती है, और निर्मल अन्तःकरणमें ही भगवत् प्रेममयी भक्ति का प्रवाह बह सकताहै; इस कारण अन्तः-करण की वृत्तिनिरोधकारी--योग इन दोनों का सहायकही है । इस सूत्र द्वारा महर्षि सूत्रकारजीने इस रीति पर योग की उभय सहायककारी सार्व्वभौम उपकारिताको दिखाय-कर, पुनः यह सिद्ध किया है कि अष्टांगयोग भक्तिमार्गका प्रधान सहायक है ॥

गौण्यात्तु समाधिसिद्धिः ॥ २० ॥

गौणीभक्ति द्वारा समाधि की सिद्धि होती है ॥ २० ॥

पूर्व्व सूत्रोंमें उन्नत पराभक्ति का विस्तारित वर्णन करके अब महर्षि सूत्रकार निम्न अधिकारयुक्त गौणीभक्ति का वर्णन कर रहे हैं। जिस प्रकार समाधि रूप योगके प्राप्त करनेके अर्थ निम्न अधिकारमें अष्टांगयोग सहायक है, उसी प्रकार पराभक्तिके प्राप्त करनेके अर्थ गौणीभक्ति-साधन की आज्ञा आचार्य्यगणों ने दी है। गुरु और शास्त्र-वाक्योंमें दृढ श्रद्धायुक्त होने पर, ईश्वर को प्राप्त करनके अर्थ उनकी महिमा और दया आदिको स्मरण करके साधकके हृदयमें जो प्रथम अवस्था की भगवतभक्ति का उदय होता है उसको गौणीभक्ति कहते हैं। उपासना और योग आदिसे गौणीभक्तिकी उन्नति होती है; और पुनः चित्त एकाग्र और मन की वृत्तियां पवित्र होने पर साधक को सविकल्प--समाधिकी प्राप्ति हुआ करती है। इस सूत्र में जो समाधि शब्दका प्रयोग है वह योगशास्त्रोक्त प्रथम-समाधि अर्थात् सविकल्प--समाधिका ही वाचक है। योग-शास्त्रमें प्रमाण है कि जब साधन द्वारा सत्व, रज और तमो-गुणकी चंचलता रूप क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढ वृत्तियां एकाग्र से निरुद्ध अवस्था को प्राप्त होजाती हैं तबही समाधिका उदय होता है; भक्तिसाधनसे स्वतःही अन्तःकरण निर्मल होकर ठहर जाता है, और अन्तःकरण चंचलता रहित होनेही से समाधि की भी प्राप्ति होती है इसमें कोई सन्देह नहीं॥

हेया रागत्वादितिचेन्नोत्तमास्पदत्वात् सङ्गवत् ॥२१॥

अनुरागही का नाम भक्तिहै । कोई कोई ऋषि ऐसा कहते हैं कि अनुराग दुःखका कारण है इस कारण उसका त्याग करना उचित है । परन्तु यह बात ऐसी नहीं है, क्योंकि संग के नाईं इसका आश्रय उत्तम है ॥ २१ ॥

भक्तिही का नाम अनुराग है, ऐसा सूत्रकार महर्षि पहलेही कह आये हैं; परन्तु यदि जिज्ञासुगण अनुरागके विषयमें और और ऋषियोंके विरुद्ध मत देखनेसे सन्देह करने लगें, इस कारण उनके सन्देह मेटने को इस सूत्रका आर्विभाव किया।अब कहते हैं कि और और ऋषिगणोंने जो अनुराग को दुःखदायी कहा है उसका कारण यह है कि जीवगण माया वश भ्रममें पतित होकर प्रायः सांसारिक पदार्थोंमें अर्थात् पिता, माता, पुत्र, कलत्र, धन, ऐश्वर्य्य आदिमें अनुराग को स्थापन कर देते हैं; क्षणभंगुर अल्प-दिन-स्थाई पदार्थोंमें अनुराग रहनेके कारण उस नाशवान् पदार्थका नाश होतेही जीवका वह अनुराग जीवके दुःख का कारण होजाता है, यथार्थ में अनुराग का कोई भी दोष नहीं परन्तु जीवके प्रियपदार्थोंका स्थाइत्व न होनेके कारण ही उस नाशवान् पदार्थसे ही जीवको दुःख होताहै । अनु-रागही ने संसार में विषयोंके साथ जीवका सम्बन्ध कर रक्खा था इस कारण जीवगणों को विषय वैराग्य सिखाने के अर्थ कोई कोई महर्षिगणोंने अनुरागही को दूषण लगा-या है; उनका ऐसा कहना वैराग्य शिक्षा कारक है; किन्तु अनुराग निन्दावाचक नहीं है । परंच ईश्वर-अनुराग में वैसे दोषकी सम्भावना नहीं; भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों कालों में एकरूप स्थाई श्रीभगवान में अनुराग होने

से बिच्छेद की सम्भावना नहीं; विषय रूप कुसंगमें जीवके दुःख पानेका कारण वर्त्तमान है, परन्तु ईश्वर रूप सत् संगमें दुःख होनेका कोई भी भय नहीं ॥

तदेव कर्म्मिज्ञानियोगिभ्य आधिक्यशब्दात् ॥ २२ ॥

कर्म्मी, ज्ञानी और योगीसे भी भक्त को आधिक्य शब्द में बर्णन होते देखा जाता इस कारण वह श्रेष्ठही है ॥ २२ ॥

अब महर्षि सूत्रकार आप्त प्रमाण द्वारा कर्म्मकांड, ज्ञानकांड और योगसाधन से भक्ति की उन्नत अवस्था प्रतिपन्न कर रहे हैं । वेदोंमें देखा जाता है कि प्रथम कर्म्मकांड पुनः उपासनाकांड और तत्पश्चात् ज्ञानकांड का वर्णन है, किंतु ईश्वर-भक्ति का वर्णन सब से स्वतंत्रही आया है, यदिच वेदोंमें परमात्माकी भक्ति का वर्णन सकल स्थानोंमें ही है परन्तु ऐसाही देखनेमें आता है कि उन तीनों कांडोंके पछिही भक्तिका विशेष वर्णन किया गया है; विशेषतः उपनिषद् समूह वेदके शेष भाग हैं और वे भक्ति वर्णन सेही पूर्ण हैं; इस विचारसे भक्ति की श्रेष्ठता और इन तीनों कांडोंके शेषमें भक्तिका अधिकार ही सिद्ध होता है । श्रीभगवान् ने निज मुख से भी कहा है कि, " तपस्वीभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः । कर्म्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन ॥ योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनांतरात्मना। श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमोमतः॥" अर्थात् योगी तपस्वीगणोंसे भी श्रेष्ठ हैं और ज्ञानीगणोंसे श्रेष्ठ हैं, और कर्म्मीगणोंसे भी श्रेष्ठ हैं तथा वे मेरे अभिमत हैं; इस कारण हे अर्जुन ! तुम योगी बनो; श्रद्धा युक्त होकर मुझ मेंही अनन्यचित्त रहकर जो मेरा भजन करत हैं व पुरुष सब योगियों में से श्रेष्ठ-

तर हैं इस कारणही ऐसे अनन्य भक्ति युक्त योगी मेरे प्रिय हैं। जब देखते हैं कि और सब अधिकारोंके पीछे भक्तिका अधिकार वेदोंमें और निज भगवत्वाक्योंमें पाया जाता है तो यह सिद्धही है कि भक्तिकी अवस्था और सब अवस्थाओं से उन्नत है॥

प्रश्ननिरूपणाभ्यामाधिक्यसिद्धेः॥ २३॥

भक्तिकी यह श्रेष्ठता प्रश्न और उत्तर द्वारा सिद्ध होचुकी है॥ २३॥

अब पुनः भक्तिदर्शन के इस विचारको और भी दृढ करनेके अर्थ महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि यदि अबभी किसीके चित्तमें सन्देह रहै तो उनको उपनिषद्में श्रेष्ठ श्रीमद्भगवद्गीताका पाठ करना उचित है कि जिसमें श्रीभगवान् श्रीकृष्ण और श्रीमान् अर्जुनमें प्रश्नोत्तर संवाद से भक्तिकी ही श्रेष्ठता प्रतिपन्न की गई है। श्रीमद्भगवत्-गीता उपनिषदोंमें श्रेष्ठ है, और सर्ववादी सम्मत सार्वभौम मत युक्त गाथा है; और जिसके उपदेशक स्वयं श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र हैं और श्रीभगवान् वेदव्यास प्रकाशक हैं; जब ऐसे ग्रन्थमें पूर्णरूपेण भक्तिकी ही श्रेष्ठता प्रतिपन्न कीगई है तो अब किसीको भी सन्देह नहीं रहसकता॥

नैवश्रद्धा तु साधारण्यात्॥ २४॥

भक्ति श्रद्धाके नाईं नहीं है क्योंकि श्रद्धा साधारणरूप से दिखाई पडती है॥ २४॥

पूजनीय मनुष्य और पूजनीय पदार्थोंमें जो प्रीति होती है उसको श्रद्धा कहते हैं; यथा पिता, माता और गुरू आदिमें श्रद्धा और सत्कर्म्म और सतशास्त्रोंमें श्रद्धा; इस रूपसे श्रद्धा साधारण प्रकारसे ही देखनेमें आती है। परन्तु

भक्ति श्रीभगवान्‌के चरणोंके सिवाय और कहीं नहीं रह सक्ती; एकमात्र भगवत्प्राप्तिका नाम ही भक्ति है ॥

तस्यां तत्वेचानवस्थानात् ॥ २५ ॥

श्रद्धा और भक्तिको एक अर्थमें लगानेसे दोष हो जायगा ॥ २५ ॥

प्रथम तो श्रद्धा नाना स्थानोंमें हुआ करती है, द्वितीय सांसारिक विषयोंमें श्रद्धाकी स्थिति होनेके कारण श्रद्धा परिवर्तनशील है । परन्तु भक्तिकी स्थिति ईश्वर हीमें होनेके कारण भक्ति निर्विकार और चिरस्थाई पदार्थ है । इस कारण श्रद्धाको भक्तिके स्थानमें आरोपण करना-उचित नहीं है । जबतक ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान है तब-तकही श्रद्धा अपना अधिकार स्थापन कर सकती है, जब-तक प्रकृतिका अधिकार रहता है तबतक ही श्रद्धा रह-सकती है; परन्तु भक्ति पुरुष अर्थात ईश्वरकोटिका पदार्थ है, जब भक्त ईश्वरकोटिमें पहुंचकर भगवत प्रेममें लय हो-जाता है तबही यथार्थ भक्तिका उदय हुआ करता है ॥

ब्रह्मकांडं तु भक्तौ तस्यानुज्ञानाय सामान्यात् ॥२६॥

भक्तिके प्रतिपादन अर्थही ब्रह्म विषयके उत्तरकांडसे ज्ञानकांडकी सामान्यता दिखाई गई है ॥ २६ ॥

जबतक ज्ञाता और ज्ञेय दोनों स्वतंत्र स्वतंत्र बने रहते हैं तबतक ही ज्ञानकी स्थिति हो सकती है, ज्ञानही मध्य-वर्ती रहकर ज्ञाताको ज्ञेयवस्तुका दर्शन कराया करता है; इस कारण ज्ञानकी अवस्था प्रकृति राज्यकी अवस्था है; इस कारण ज्ञानकी अवस्था श्रद्धाहीका अधिकार भुक्त है; परन्तु भक्तिकी अवस्था इस अवस्थासे अतीतही है । यदि ज्ञानही सब कुछ होता, यदि ज्ञानकी अवस्थाही वेदका शेष लक्ष होता, तो श्रुतियोंमें ज्ञानकांडके वर्णनके पीछे

ईश्वर भक्तिका वर्णन न देख पडता। ज्ञान-अवस्थाके अनंतर भक्ति-अवस्था का अधिकारहै. इसकारणही वेदोंके शेषभाग उपनिषदोंमें ज्ञान और भक्तिका एकस्थान पर मिलाप देख पडता है; ज्ञान-अवस्थाके अनन्तर भक्ति-अवस्थाका अधिकार है इसकारणही उपनिषद् समूह साधकगणोंको ज्ञान द्वारा ईश्वर साक्षात् करायके तदनन्तर भक्ति अमृतपान कराय तृप्त, मुक्त और कृतकृत्य किया करतेहैं॥

इति महर्षि शाण्डिल्यकृत भक्तिदर्शन अन्तर्गत प्रथमाऽध्यायएवंतद्सह निगमागमीनामकभाष्यः समाप्तः।

द्वितीय अध्यायः।

प्रथमाह्निकः।

बुद्धिहेतुप्रवृत्तिराविशुद्धेरवघातवत् ॥ २७॥

जबतक धानपर तुष रहता है तबहीतक धानको उदूकल और मूशल द्वारा कूटा जाता है। इसी प्रकार बुद्धि संबन्धीय प्रवृत्तियां तबहीतक रहती हैं जबतक चित्त शुद्ध नहीं होजाता है॥ २७॥

ज्ञानअवस्था और भक्तिअवस्था इन दोनोंमें जो पृथक्ताहै उसको स्पष्टरूपेण दिखाने के अर्थ महर्षि सूत्रकार अब कह रहे हैं कि, जिस प्रकार धान पर तुष रहते समय ही धानको उदूकल और मूशल द्वारा कूटनेकी आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार बुद्धि सम्बन्धीय वृत्तियां तभीतक रहती हैं जबतक चित्त शुद्ध नहीं होजाता। बुद्धिकी मलीनता ही उसकी चंचलता का कारण है, इस चंचलताके दूर करने के अर्थ ही योग और उपासना आदि साधन और श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि क्रिया करनेकी आवश्य-

कता है; तुष आदिके निकलजाने से जैसा तंडुल निर्मल हो-जाता है इसीप्रकार बुद्धि जब चंचलता रहित होकर शुद्ध होजाती है तब ही उसमें भगवत साक्षात्कारिणी शक्ति उत्पन्न होजाती है ।भगवत् साक्षात्कार अर्थात् पराभक्तिका उदय होनेपर और किसी भी साधनकी आवश्यकता नहीं रहती। जबतक बुद्धि राज्यमें विचार रहता है तबतक साध-नका रहना और क्रिया का होना भी अवश्य सम्भावी है; परन्तु जब साधक भक्ति राज्य में पहुंच जाता है तब उसके हृदयमें अनन्यप्रेमका उदय होनेके कारण उसका अन्तःकरण तद्गत भावको धारण करके भगवत्स्वरूपमें लय होजाता-है. और तब ज्ञान का अभाव होनेसे क्रियाका नाश होकर एकमात्र भक्तिप्रवाह ही बहने लगता है ॥

तदङ्गानाञ्च ॥ २८ ॥

उसके अंग समूहों कीभी आवश्यकता नहीं रहती ॥ २८ ॥

पूर्व सूत्रको विस्तारित रूपेण समझानेके अर्थ महर्षि सूत्र-कार कहते हैं कि जब पराभक्ति का उदय हो जाता है तब पूर्वअंगों की अर्थात् गौणी भक्ति संबन्धीय साधन अथवा ज्ञान अवस्था संबन्धीय श्रवण, मनन निदिध्यासन आदि साधन अंगों की कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती । प्रेममय भक्त तब तन्मय हो जाता है; अर्थात् उस अवस्था में उनकी दृष्टि विधि निषेधोंपर नहीं रहती; इसी अवस्थाका नाम वेदोंमें परमहंस अवस्था कहा है ॥

इस सूत्र अर्थ से यह समझना उचित नहीं है कि उन्नत भक्तगण यथेच्छाचारी होजाते हैं; क्यों कि जिनका चित्त भगवत्-प्रेमसागर में डूब जाता है उनसे भगवत् आज्ञा विरुद्ध कार्य्य होयही नहीं सकता। यदिच. अनन्यभक्तकी

दृष्टि विधि और निषेधपर नहीं रहती अर्थात् वे तब प्रकृति राज्यसे उपराम होनेके कारण प्रकृति राज्य सम्बन्धीय विधि निषेध पर दृष्टि डालतेही नहीं; तत्रच यह समझना ही उचित है कि प्रकृति जब ईश्वरके आधीन है, ईश्वरकी आज्ञासेही जब प्रकृति राज्यमें धर्म्मकी रक्षा हो रही है, तब भगवतभावमें लय हुए भक्त द्वारा भगवत् आज्ञा विरुद्ध असत् कार्य्य होगाही नहीं । भगवत्भाव मय भक्त द्वारा जो कुछ कार्य्य होगा वह धर्म्म-सहायकारी कार्य्यही होगा, भगवतभावमय-भक्त द्वारा जो कुछ उपदेश होगा वह जीव-हितकारी उपदेशही होगा, इसमें कोई भी सन्देह नहीं ॥

तामैश्वर्य्यपदां काश्यपःपरत्वात् ॥ २९ ॥

विभिन्नताके कारण आचार्य्य कश्यपऋषिने इसको
ऐश्वर्य्यपदा कहके वर्णन किया है ॥ २९ ॥

अब जिज्ञासुगणों के सन्देह निवारणार्थ महर्षि सूत्रकार नाना आचार्य्योंके नाना मत दिखाते हुए, अपनी सार्व्वभौम युक्ति द्वारा सबकी एकता दिखावेंगे । प्रथम इस सूत्र में द्वैतवादके प्रधान आचार्य्य महर्षि कश्यपके मतका वर्णन कर रहे हैं; और कहते हैं कि आचार्य्य कश्यपका मत यह है कि जीव और ईश्वर नित्य स्वतंत्र हैं इस कारण सब ऐश्वर्य्योंके एकमात्र आधार परमेश्वरकी सेवा करनाही जीवका परम पुरुषार्थ है । साधक गणोंको जीव और ईश्वरकी स्वतंत्रता मानकर सदा परम प्रियतम जगन्नाथ की सेवामें युक्त रहनाही उचित है; इसीसे उनका कल्यान होगा ।

आत्मैकपरां बादरायणः ॥ ३० ॥

आचार्य्य बादरायण उसको आत्मपर कहते हैं ॥ ३० ॥

अद्वैतवादके प्रधान आचार्य्य भगवान् बादरायण अर्थात् वेदव्यास जीने वेदान्त सूत्रोंसे यही सिद्ध किया है कि आत्म-साक्षात्कारही परम पुरुषार्थ है; जब जीवका द्वैत रूपी भ्रम दूर होजाता है और वह सर्व्वव्यापक निर्विकल्प सत् चित् आनन्दरूपी परमात्माके रूपको प्राप्त कर लेता है तबही साधनकी पूर्ण सिद्धि समझनी चाहिये। द्वैत और अद्वैत दोनों सम्प्रदायोंकेही जिज्ञासुगणों के भ्रम दूर करणार्थ प्रथम महर्षि सूत्रकारजी द्वैत मार्ग के प्रधान आचार्य्य कश्यपके मतको प्रकाश करके; अब इस सूत्र द्वारा अद्वैत मार्गके प्रधान आचार्य महार्षि वेदव्यास जीके मतको प्रकाशितकर रहे हैं;और पुनराय अगले सूत्रमें अपने मतद्वारा दोनोंकी एकता स्थापन करेंगे।

उभयपरां शांडिल्यः शब्दोपपत्तिभ्याम् ॥ ३१ ॥

शब्द और उपपत्तिद्वारा महर्षि शांडिल्य इसको उभयपर कहते हैं ॥ ३१ ॥

परमज्ञानी सूत्रकार महर्षि इस सूत्रद्वारा द्वैत और अद्वैत इन उभय मतोंका ऐक्य स्थापन करके कहते हैं कि दोनों आचार्य्योंका मत ठीकही है। आत्मा ईश्वरका अंश है यह बात युक्ति और विचार द्वारा सिद्धही है; विशेषतः ईश्वरसे और जीवसे इस प्रकारका सम्बन्ध होना सब दर्शनकारोंने ही स्वीकार कियाहै। जब आत्मा अर्थात् जीव ब्रह्मसत्ता अर्थात् ईश्वरमें विलीन होकर एक रूप होजाय अद्वैत वादीगण उसी अवस्थाको ब्रह्मसद्भाव कहते हैं; परन्तु जबतक आत्मा ब्रह्ममें लय नहो तबतक उनकी स्वतंत्रता भी सिद्धही है। यदिच जीव और ब्रह्मकी एकतारूप ब्रह्मसद्भावमें

कुछ भी क्रियाकी सम्भावना नहीं; तन्नच जीव ब्रह्मकी स्वतंत्रतामें क्रिया का रहना भी उचित है, और इसकारण उस स्वतंत्र अवस्थामें जीवको अपनी लघु सत्ता मानकर पूर्ण सत्तावान् ईश्वर की उपासना करना भी उचितही है। इस विचारसे यही सिद्ध हुआ कि जीव अवस्थामें द्वैत पक्ष यथार्थ है, और मुक्त अवस्थामें अद्वैतपक्ष भी यथार्थ ही है; इस कारण द्वैत और अद्वैतमतके आचार्य्योंमें मतभेद कुछ भी नहीं है; केवल उनके शास्त्रोंमें स्वतंत्र स्वतंत्र, अधिकारियों का स्वतंत्र स्वतंत्र अधिकार वर्णन किया गया है॥

वैषम्यादऽसिद्धमितिचेन्नाभिज्ञानवदवैशिष्टयात्॥ ३२॥

वैषम्य होसेने यह आसिद्ध नहीं होगा, क्योंकि यह
ज्ञान की नाईं अवैशिष्टयहै ॥ ३२ ॥

इन दोनों अवस्थाओं की एकता देखकर कदाचित जिज्ञासुगणों के हृदयमें सन्देह हो इसकारण उनके सन्देह दूर करने के अर्थ महार्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि जिस प्रकार भिन्न भिन्न देशोंके भिन्न भिन्न समय की घटना एकही साथ स्मरण होनेपर भी उनमें किसी प्रकारका वैषम्य नहीं रहता; उसी प्रकार वैसा होनेपर भी ईश्वरमें किसीप्रकार की वैषम्यता नहीं आय सकती॥

न च क्लिष्टःपरस्मादनन्तरं विशेषात् ॥ ३३॥

परमातमा में वैषम्य दोष स्पर्श नहीं करता, क्योंकि ज्ञान द्वारा
विशेषभावों की उपलब्धि हुआ करती है ॥ ३३॥

परमात्मामें कुछभी विषमताका कारण होही नहीं सक्ता क्योंकि जीवको जो भिन्न भिन्न भावों का अनुभव होता है वह उसके अल्प ज्ञान से ही होता है; परन्तु ईश्वर जैसे सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान् हैं वे वैसे ही त्रिकालमें रहेंगे। जीवमें

अल्पज्ञता है इस कारणही उसमें बुद्धिकी चंचलता भी है; परन्तु पूर्ण ज्ञानमय ईश्वरमें चंचलता रूप वैषम्य दोष नहीं होसकता ॥

ऐश्वर्य्यं तथेति चेन्न स्वाभाव्यात् ॥३४॥

ऐश्वर्य्योंमें दोष स्पर्श नहीं करता, क्योंकि वे स्वाभाविक हैं ॥ ३४ ॥

यदि जिज्ञासुगणोंके हृदयमें ऐसा सन्देह हो कि कदापि वैसा विचार करनेमें ईश्वरके ऐश्वर्य्योंमें फेर पड सक्ता है; इस कारण उनके सन्देह दूर करणार्थ महर्षि सूत्रकार कह-रहे हैं कि ईश्वरके ऐश्वर्य्योंमें कभी भी फेर नहीं पड सक्ता; क्योंकि ईश्वरके ऐश्वर्य्य कहीं से लिये हुए नहीं हैं अथवा उपाधि मूलक भी नहीं हैं । जैसे प्रकाश और दहनशक्ति अग्निकी स्वाभाविक और नित्यस्थाई शक्ति है, वैसे ही ईश्वर के ऐश्वर्य्य भी स्वाभाविक हैं । और जब ईश्वरमें दोष स्पर्श नहीं करसक्ता तो उनके स्वाभाविक ऐश्वर्योंमें भी दोष स्पर्श करने की सम्भावना नहीं ॥

अप्रतिषिद्धं परैश्वर्य्यं तद्भावाच्च नैवमितरेषाम् ॥३५॥

ईश्वरके ऐश्वर्य्य कभी भी प्रतिषिद्ध नहीं होते हैं, उनकी नित्यताही देखनेमें आती है; परन्तु जीवगणोंमें वैसा नहीं है ॥ ३५ ॥

जीवात्मामें ऐश्वर्य्य वर्त्तमान है क्योंकि जीव अपनी क्षुद्र शक्तिके अनुसार थोडी बहुत सृष्टि आदि क्रिया कर सकता है; परंतु जीवमें मायाका विकार रहनेके कारण वह ऐश्वर्य्य परिस्फुट नहीं हो सकते सामलही रहते हैं। भगवत् उपासना द्वारा जब जीवमें की अविद्याका नाश होजाता है तब वही जीव शिवरूप होकर ईश्वरकी ऐश्वर्य्यराशियों का अधि-कारी होजाता है, परन्तु जबतक जीव जीव ही रहता है तबतक वह पूर्ण ऐश्वर्य्यों का अधिकारी हो नहीं सकता ।

श्रीभगवान्को अपने ऐश्वर्य्य इस प्रकारसे लाभ करने नहीं पड़ते हैं; उनके ऐश्वर्य्य नित्य और स्वाभाविक ही हैं ॥

सर्वानृते किमितिचेन्नैवं बुद्ध्यानन्त्यात् ॥३६॥

सब छोड़ देने पर फिर उसकी क्या आवश्यकता है ? आवश्यकता अवश्य है, क्योंकि बुद्धि बहुत प्रकार की होती है ॥ ३६ ॥

अब यदि जिज्ञासुगणोंके हृदयमें यह शंका उठै कि जीवको तो सदा मुक्ति उपायकाही चिन्तन करना उचित है, भक्तिही उनके लिये श्रेय है, तो पुनः ऐश्वर्य्यों का वर्णन क्यों किया जाता है ? साधक भक्तगण ऐश्वर्य्य लेके क्या करेंगे ? इस प्रकारकी शंकाओंके दूरकरनेके अर्थ महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि जीव अनन्त हैं; इस कारण जीवकी मति गतिका भी ठिकाना नहीं; सबही जीव मुक्तिके अभिलाषी थोड़ेही होते हैं । जो साधक ऐश्वर्य्यका भिखारी हो उसके अर्थ ऐश्वर्य्योंका होनाभी अवश्य है । क्योंकि जब साधक अपनी कामनाके अनुसार सिद्धियोंको प्राप्त कर लेगा; तबही वह आगेको बढ़ सकेगा; वासना रहते जीव मुक्तिपदका अधिकारीहोही नहीं सकता । इस कारण मध्यवर्त्ती साधकोंके हितार्थ, प्रार्थनाकारियोंकी प्रार्थना पूर्ण करणार्थ, उन पर कृपा वश हो आचार्य्यगणोंने अपने ग्रन्थोंमें सिद्धियोंका वर्णन किया है ॥

प्रकृत्यन्तरालादवैकार्यं चित्सत्त्वेनानुवर्तमानत्वात् ३७

प्रकृतिसे अलग रहकर चित्-सत्ताकी स्वतंत्र अधिकारिता सिद्ध है ॥ ३७ ॥

अब महर्षि सूत्रकार सृष्टि क्रियासे ईश्वरका सम्बन्ध वर्णन कर रहे हैं । सृष्टि, स्थिति और संहार करना चित्स्वरूप परमात्माका कार्य्य नहीं है । प्रकृतिही चैतन्य सत्तासे सत्तावती होकर अपने सत्त्व, रज और तम तीन

गुणोंद्वारा सृष्टि, स्थिति, लय आदि क्रिया किया करतीहैं; सृष्टिकी सब क्रियाऐं प्रकृतिके वैचित्र्यसेही होती हैं। पुरुष अर्थात् परमात्मा उन सबोंमें निर्लिप्त है, इस कारण प्रकृतिकी क्रियासे उनमें कोईभी विकार नहीं हुआ करता है। इस सूत्रमें महर्षि सूत्रकारजीने त्रिगुणमयी प्रकृति कोही सृष्टिका कारण करके सिद्ध किया है; उनका यही तात्पर्य्य है कि यदिच पुरुषकी सत्तासे ही सत्तावती होकर प्रकृति सृष्टि क्रिया करती है तत्रच पुरुष इस क्रियासे निःसंग है, और जो कुछ कार्य्य करती है वह प्रकृतिही करती है; सृष्टिमें जो कुछ क्रिया होती है वह प्रकृतिसेंही होती है। सांख्यदर्शनमें महर्षि कपिलजीने भी यह भली· भाँति सिद्ध कर दिखाया है कि एकमात्र प्रकृतिहीसे जगत् की सृष्टि क्रिया होरही है। सांख्यकार महर्षिजीने कहा है कि, "आदिहेतुतद्द्वारापारम्पर्य्येऽप्यणुवत्" अर्थात् परंपराय सम्बन्ध विचारसे यही सिद्धान्त होता है कि प्रकृतिही सृष्टिका कारण है, जिस प्रकार पदार्थवादी गण अणुको मूल कारण कर जानते हैं उस प्रकारही प्रकृति भी इस सृष्टि क्रियाका मूल कारण है। यदिच निकट सम्बन्ध से अहंकारकोही कोई कोई मतावलम्बी सृष्टि विस्तार का कारण कहते हैं तत्रच आदि सम्बन्धसे मूलप्रकृतिही सृष्टिका मूल कारण है इसमें कोई भी सन्देह नहीं।

तत्प्रतिष्ठागृहपीठवत् ॥ ३८ ॥

उनकी स्थिति घरके भीतरकी पीढ़ीके नाईं है ॥ ३८ ॥

पूर्वसूत्रमें महर्षि सूत्रकारजी सृष्टिका वर्णन करके अब इससूत्रमें पुरुष अर्थात् ईश्वर स्वरूपका वर्णन कररहे हैं। और कहतेहैं कि जब कोई मनुष्य घरके भीतर पीढी पर

बैठाहुआ हो, और कहनेमें यही आवे कि "अमुक घरके भीतर पीढ़ीपर बैठा हुआहै" तो यही समझमें आवेगा कि पीढ़ी और मनुष्य दोनोंही उस घरके भीतर हैं। इसी प्रकार माया और मायाकी क्रिया स्वरूप सृष्टि, स्थिति, और लय आदि ईश्वरमेंही प्रतिष्ठित हैं। यदिच वेद ऐसा कहते हैं कि "असंगोऽयमपुरुषः" अर्थात् पुरुष असंगहैं; तत्रच प्रकृति जो कुछ करती है वह पुरुषके अर्थही करती है क्योंकि प्रकृति स्वतंत्र नहीं है किन्तु परतंत्र है। और इसी विचारको सिद्धकरने के अर्थ सांख्यदर्शनकर्त्ता महर्षिकपिलजीने भी कहा है कि, "पूर्वभावित्वेद्वयोरेकतरस्यहानेऽन्यतरयोगः" अर्थात् दोनों पूर्वमें होने परभी एक के हानमें अन्य का योग है। सांख्यकारजीने इस सूत्र द्वारा प्रकृति और पुरुष दोनों ही को सृष्टि के मूलमें स्थापन किया है परन्तु सृष्टि क्रिया को प्रकृति हीमें प्रतिपन्न किया है। पुरुष और प्रकृतिके संयोग को किसी न किसी रूपान्तरमें सब ही दर्शनकारोंने माना है; परन्तु पुरुष अपरिणामी और निःसंग है किन्तु प्रकृति परिणामी और संगवती है इस कारण प्रकृतिको ही केवल सृष्टिका मूल प्रतिपन्न किया जाता है; परंच कुछ ही हो यह तो मानना ही पडेगा कि सृष्टिके मूलमें दोनों ही हैं। इस कारण महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि ईश्वर स्थिति का विचार करने से सृष्टि क्रिया का सम्बन्ध भी उनमें पाया जायगा।

मिथोपेक्षणादुभयम् ॥ ३९ ॥

दोनों ही इसके कारणरूप हैं ॥ ३९ ॥

पूर्व्व विचारको सरल करनेके अर्थ महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि दोनोंही इस सृष्टिके कारण हैं ऐसा समझना

उचित है । ईश्वर सत्ता न रहनेसे केवल प्रकृति अर्थात् माया से ही सृष्टि की क्रिया नहीं चल सकती; उसी प्रकार माया की सहायता बिना केवल चैतन्यसत्तासे ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति क्रिया का होना असम्भव है । इस कारण जब सृष्टि क्रियामें दोनों को ही देखते हैं तब यह मानना ही पडेगा कि पुरुष अर्थात् ईश्वर और प्रकृति अर्थात् माया दोनोंही सृष्टिके कारण हैं ।

चैत्याचितोर्नत्रितीयम् ॥ ४० ॥

प्रकृति और ब्रह्ममें कोई भी विभिन्नता नहीं है ॥ ४० ॥

अब पूर्व्व विचार को देखकर यदि जिज्ञासुगणोंके हृदयमें सन्देह उठे कि पुरुष और प्रकृति दोनों को ही सृष्टिका कारण कहा जाता है यह कैसे सम्भव है ? दो की स्वतंत्र स्वतंत्र सत्ता कैसे मानसक्ते हैं ? इत्यादि शंकाओंके दूर करने के अर्थ सूत्रकार महर्षि कह रहे हैं कि ऐसी शंका करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पुरुष अर्थात् ब्रह्म और प्रकृति अर्थात् माया यह दोनों कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं हैं। जिस प्रकार मैं और मेरा वस्त्र कहने से, अथवा मैं और मेरी शक्ति कहने से मुझमें और मेरे वस्त्र में अथवा मुझमें और मेरी शक्तिमें कोई भी भेद नहीं जान पडेगा; उसी प्रकार ईश्वर और ईश्वर की प्रकृति अर्थात् शक्तिमें कोई भी भेद नहीं है । "मैं" ऐसा शब्द कहने से मेरा और उसके साथ ही मेरारूप और मेरे दोष गुण का संबन्ध उसी "मैं" शब्द में ही आय जायगा; उसी प्रकार "ब्रह्म" कहने से माया भी "ब्रह्म" शब्दके साथ ही अनुभूत होगी। और "प्रकृति" शब्द कहने से भी ईश्वरः अर्थात् ब्रह्मका भी अनुभव साथ ही साथ होगा; क्योंकि प्रकृति और कुछ पदार्थ नहीं है किन्तु

कवल ईश्वरकी शक्तिका नामही प्रकृति है। ब्रह्म, पुरुष, परमात्मा, और ईश्वर आदि शब्द सब एकही अर्थ वाचक हैं, और उसी प्रकार उनकीही शक्तिका नाम प्रकृति, माया, शक्ति, और महाविद्या आदि शब्द हैं। जिज्ञासुगणोंको भलीभाँति समझानेके अर्थ ही दर्शनशास्त्रोंके प्रकाशक महात्मागणोंने प्रकृति और ईश्वरको अलग अलग कर दिखाया है; जब साधक साधन विधिसे ब्रह्मतत्त्वको समझ जाता है तबही वह निर्विकार अवस्थाको प्राप्त हो जाता है।

युक्तौ च सम्परायात् ॥ ४१ ॥

वियोगके पूर्वमें दोनों ही एक हैं ॥ ४१ ॥

सृष्टि आदि क्रियाके समय ब्रह्म और प्रकृति अलग अलग दिखाई पड़ते हैं, परन्तु क्रियाका प्रवाह छोड देकर दर्शन करनेसे ब्रह्म और प्रकृतिका नित्य एकही सम्बन्ध दिखाई पडेगा। अर्थात् जब दृष्टि संसारकी ओर बनी रहती है उस समय ज्ञानसे संसारकी क्रिया रूप प्रकृति और एकमात्र चैतन्य सत्ता रूप ब्रह्मका स्वतंत्र स्वतंत्र स्वरूप दिखाई देता है; परन्तु दृष्टि अन्तर्मुखी होनेसे संसारकी सत्ता पर दृष्टि रहती ही नहीं, और तबही साधकको प्रकृति और ब्रह्मकी एक सत्ता अनुभव होजाती है। उसी एक अवस्थाको दर्शनकारोंने ब्रह्म कहा है।

शक्तित्वान्नानृतं वेद्यम् ॥ ४२ ॥

शक्तिहीकी क्रिया है इस कारण यह जगत् मिथ्या नहीं है ॥ ४२ ॥

यह संसार प्रकृति अर्थात मायाकी क्रिया है इस कारण यह मिथ्या नहीं होसक्ता; जब ब्रह्म सत्य है तो उनकी शक्तिरूप प्रकृति भी सत्यहै; और जब प्रकृति सत्य है तो उसकी क्रिया रूप संसार भी सत्य है। शक्ति रूपिणी मायाको जड

कहनेमें सुगमता पडे तो भलेही उसको जड कहो, परन्तु सत्यकी क्रियाको कैसे मिथ्या कह सकते हैं । जगत् संसार को मायारूप कहनेसे विचार ठीक पडे तो माया कहो, यदि भ्रम कहनेमें शिष्यको समझानेमें सहायता पडे तो भ्रम कहो, परन्तु मिथ्या कहना ठीक नहीं है, जब इस संसारका कारण प्रकृतिरूप बीज सत्य है तो उस बीजसे उत्पन्न हुआ यह संसार महाद्रुम भी सत्यही है ।

तत्परिशुद्धिश्च गम्यालोकवल्लिंगेभ्यः ॥ ४३ ॥

उसकी अर्थात् भक्तिकी शुद्धता मनुष्योंके चिह्नसे अनुभव होगी ॥ ४३ ॥

पूर्व्व सूत्रोंमें महर्षि सूत्रकारजीने संसारकी सृष्टिका विस्तारितरूपेण वर्णन करके, अब इस सूत्रद्वारा वे भक्तगणोंके लक्षण वर्णन कर रहे हैं । और कह रहे हैं कि साधकमें भक्ति भाव प्रकाश होनेके जो अश्रुपात, रोमांच, गद्गद् वाक्यों की स्फूर्ति, दीनता, सरलता, धर्म्मकी सार्वभौमिक दृष्टि आदि लक्षण हैं, उनका प्रकाश किस साधकमें कितना हुआ है उसके देखनेसे ही साधकका अधिकार समझमें आ-जायगा । श्रीभगवान्ने निज मुखसे ही साधकोंके लक्षण श्रीमद्भगवत्गीतामें कहे हैं यथा, " अभयं सत्त्वसंशुद्धि-र्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः । दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप-आर्जवम् ॥ अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ॥ दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ तेजःक्षमाधृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता । भवंति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत" ॥अर्थात हे भारत ! भय शून्यता, चित्तकी शुद्धता, आत्मज्ञान प्राप्त करनेके उपायोंमें अनुराग, दान अर्थात् परो-पकारार्थ देना, इन्द्रिय संयम, यज्ञ, वेदाध्ययन, तप, सरलता, अहिंसा अर्थात् जीवोंको क्लेश

देने से बचना, सत्य, क्रोध रहित होना, त्याग अर्थात् कर्म्म के फलों में अनासक्ति, शान्ति, खलता शून्यता, सर्व भूतोंमें दया, निर्लोभता, अहंकारराहित्य, ह्री अर्थात् असत् कार्य्यों में लज्जा, अचंचलता तेज, क्षमा अर्थात् अपकारकारी को दंड देनेकी सामर्थ्य रखने पर भी उसको क्षमा करना, धृति अर्थात् सुख और दुःखमें विचलित न होना अन्तर और बहिर्शुद्धता, अद्रोह और नातिमानिता अर्थात् मैं पूजनीय हूं ऐसे अभिमान से बचना ये सब दैवी सम्पद् के अभिमुख जानेवाले पुरुषोंमें लक्षण हुआ करते हैं। महर्षि सूत्रकार का इस सूत्र से यही तात्पर्य है कि भगवत्-प्रेम-मय भक्त भगवत्-राज्यमें कितना अग्रसर हुआ है वह उसके सत् गुण, और उसके बहिर्भक्ति-लक्षणों से ही जाना जा-सकता है॥

सम्मान बहुमान प्रीति विरहेतर विचिकित्सा महिम-ख्याति तदर्थ प्राण स्थान तदीयता सर्व तद्भावा प्रातिकूल्यादीनिच स्मरणेभ्यो बाहुल्यात्॥ ४४॥

सन्मान, बहुमान, प्रीति; विरह, इतर विचिकित्सा. महिमा कीर्तन, प्रियतम के अर्थ जीना, तदीयता, तद्भाव, अप्रातिकूल्य इत्यादि प्रेमके भेद हैं॥ ४४॥

अब महर्षि सूत्रकार भक्तों के भेदवर्णन कर रहे हैं। ईश्वर में सन्मान बुद्धि करके उनके साथ प्रीति करने का नाम सन्मान भक्ति है, पांडव कुल तिलक श्री अर्जुन का चरित्र सन्मान भक्ति का उदाहरण है। भगवत् नाम के किसी पुरुष का नाम लेने से अथवा और कोई बहिः पदार्थ के देखने से अथवा सुनने से साधक के हृदय में जो भक्तिका आविर्भाव होता है उसे बहुमान भक्ति कहते हैं; बालक

भक्त श्रीप्रह्लाद " क " शब्द को देखकर ही कृष्ण-प्रेममें उन्मत्त होगये थे यही बहुमान भक्ति का उदाहरण है । विदुर की प्रीति और ब्रजगोपिका गणोंका विरह जगत् प्रसिद्ध है । अतिआग्रह पूर्व्वक औरों की अनपेक्षा करके भगवान्की अपेक्षा करनेका नाम ही इतर विचिकित्सा भक्ति है; चित्रकेतु और उपमन्यु आदि इस भक्ति के उदाहरण स्थल हैं ।भगवत् महिमाकीर्तनसे ही जिन को सानन्द आता हो वही महिमा प्रचारक भक्त हैं; महिमा कीर्तन के उदाहरण में महर्षि श्रीवेदव्यासजी से अधिक और किसका उदाहरण होगा । भक्तश्रेष्ठ हनुमान् का जीवन श्रीभगवान् के अर्थही है इस कारण वेही तदर्थ प्राणधारक भक्त हैं नृपश्रेष्ठ बलिराजा की तदीयता और महर्षि नारदजी का तद्भाव पुराणोंमें प्रसिद्ध है । और बीर शिरोमणि भीष्मपितामह और धर्म्मराज महाराज युधिष्ठिर अप्रतिकूल्यभक्त थे ऐसा शास्त्रोंमें वर्णन है। भगवत्प्रेम एकरूप होने पर भी साधक की प्रकृति स्वतंत्र स्वतंत्र होनेके कारण जिसे जैसा भाता है वह भक्त वैसे ही अपने हृदयनाथ से प्रीति करने लगता है ॥

द्वेषादयस्तु नैवम् ॥ ४९ ॥

द्वेष बुद्धि आदि से ऐसा नहीं होता ॥ ४९ ॥

ईश्वर में द्वेष बुद्धि रहने से कदापि सद्गति होनेकी सम्भावना नहीं; द्वेष के कारण से ही शिशुपाल आदिको क्लेशही पाना पडा । जब यह प्रमाण होचुका है कि सब साधनों का अन्त ईश्वर की पराभक्ति है तो यह स्वतः सिद्ध ही है कि ईश्वर में द्वेष रहने से नतो भगवत्भक्तिप्राप्तिकारीसाधन बनसकेगा और न भगवत् साधारण प्रीति रूप गौणीभक्ति का अधिकारी ही वह हो सकेगा । इस कारण भगवत् द्वेष-

कारी को क्लेश ही क्लेश है; इसको आनन्द प्राप्ति की कोई भी सम्भावना नहीं ॥

तद्वाक्यशेषात् प्रादुर्भावेष्वपि सा ॥ ४६ ॥

यह वाक्य अनन्तसे लेकर अवतार आदियोंमें भी देखनेमें आता है ॥ ४६ ॥

मत्स्यादि अवतारमें शिवादिका, गुण स्वरूपमें संकर्षणादिका, और इसी प्रकार और और नाना स्थानोंमें पराभक्ति देखनेमें आती है । श्रीभगवान्में प्रीतिसे भाक्ति की प्राप्ति द्वारा परमानन्दका उदय और उनमें अप्रीति रखनेसे महा क्लेशों की प्राप्ति का उदाहरण पुराण आदि शास्त्रोंमें अनन्त ही देख पडते हैं; इस कारण इस विषयमें और कुछ अधिक कहने की आवश्यकता ही नहीं ॥

जन्मकर्म्मविदश्चाजन्मशब्दात् ॥ ४७ ॥

अजन्म शब्दसे जन्म कर्म्म रूप ज्ञानकी सिद्धि हुआ करती है ॥ ४७ ॥

जो साधक अजन्म रूप भगवान्के जन्म कर्म्मसे विदित होजाते हैं उनको फिर जन्म ग्रहण करनेकी आवश्यक्ता नहीं पडती । श्रीमद्भगवत्गीतामें श्रीभगवान्ने निजमुखसे ही कहा है कि,–"जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः । त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्ज्जुन ॥" अर्थात् हे अर्जुन! मैं सत् चित् आनन्द रूप हूं; मैं अज और नित्य होने पर भी लोकउपकारार्थ माया कल्पित देह धारण करके वेद विहित धर्म्म की मर्यादा रक्षा किया करता हूं मेरा जन्म, कर्म्म, और मरण यह सब ही अलौकिक हैं; जो मेरी इस अलौकिक लीला को भलीभाँति जानकर मुझे सदा ही स्वतंत्र, निर्लिप्त और अकर्तारूप समझने लगते हैं वेही इस संसार रूप बंधनसे मुक्त होजाते हैं । श्रीभगवान् निर्लिप्त और आक्रिय होनेपर भी केवल जीवके हितार्थ

ही देह परिग्रह किया करते हैं; लोक शिक्षार्थ और जीव कल्याणार्थ वे सब कुछ ही करते हैं परन्तु वे किसी कार्य्यमें भी लिप्त नहीं होते । जो साधक अपनी ज्ञानशक्ति द्वारा श्रीभगवान् की कृपासे श्रीभगवान् का अलौकिक रूप और श्रीभगवान्की अद्भुत शक्तियां यथावत् जान लेता है उसी को श्रीभगवानके दर्शन भी होजाते हैं और जीवको आत्म-साक्षात् रूप भगवत्-दर्शन जब होजाता है तब वह स्वतः ही जन्म मृत्यु रूप बन्धनसे छूटकर भगवत्-भावमें लय होता हुआ कैवल्यपदको प्राप्त कर लेता है ॥

तच्च दिव्यं स्वशक्तिमात्रोद्भवात् ॥ ४८ ॥

उनका जन्म कर्म्म आदि सबही दिव्य और असाधारण है; उनही की शक्ति से वे नानारूप दिखाई पडते हैं ॥ ४८ ॥

जीवगण जिस प्रकार कर्म्म-फलरूप अदृष्टसे बंधे हुए जन्म मरण आदि आवागमनके आधीन होजाते हैं श्रीभग-वान् का आविर्भाव और तिरोभाव उस प्रकारसे नहीं हुआ करता है । वह सर्व्वशक्तिमान् भगवान् जब आव-श्यकता समझते हैं तबही अधर्म्म का नाश और धर्म्म की रक्षाके अर्थ अपनी लीलामयी प्रकृतिको अवलम्बन करके उस समय-उपयोगी देह को धारण कर साधु गणों की रक्षा किया करते हैं; पुनः अपनी ही इच्छासे अपने मायिक देहको त्याग करके अपने स्वरूपमें विराजने लगते हैं; वह सच्चिदानन्द रूपी भगवान् सदा एक रूप और अज होने पर भी अपनी ही मायासे अपने नाना प्रकार रूपको सृष्टिके कल्याणार्थ दिखाया करते हैं । वे प्रकृति-जयी और असाधारण-शक्ति-युक्त हैं ऐसा जब निश्चय ही है तब उनकी अवतारणा में कोई भी संदेह

नहीं हो सकृता, परन्तु बात इतनीही है कि उनकी अलौकिक क्रिया और अपार शक्ति जीव बुद्धिसे अतीत है इसकारण वह साधारण बुद्धिगम्य विषय नहीं है ॥

मुख्यं तस्य हि कारुण्यम् ॥ ४९ ॥

उनकी करुणाही उनके जन्म आदिका प्रधान कारण है ॥ ४९ ॥

अब यदि जिज्ञासु गणोंमें यह सन्देहहो कि जन्म लेनेकी उनको आवश्यकता क्या है? ऐसे प्रश्नोंके उत्तरमें महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि जीवपर उनकी करुणा ही उनके ऐसे अवतार आदि देह धारणका कारण है। सर्वशक्तिमान् परम कारुणिक श्रीभगवान् पाप पुण्यका फल रूप सुख दुःख भोगनेके अर्थ कर्म्म वश होकर जन्म ग्रहण नहीं किया करते, क्योंकि उनकी माया उनके आधीन ही है; जीव जैसे मायाके आधीन हैं वे वैसे नहीं हैं। जब तक उनकी विभूति द्वारा जगत्का कार्य्य चलता रहता है और धर्म्मकी रक्षा होती रहती है तब तक उनकी विशेष करुणा प्रकाशित करनेकी आवश्यकता नहीं रहती; परन्तु जब पाप-भारसे पृथिवी भाराक्रांत हो डगमगाने लगती है; धर्म्मकी मर्य्यादाको छोड़ कर जब अधार्मिक असाधुगण धार्म्मिक साधुगणोंको अति क्लेश देनेमें प्रवृत्त होजाते हैं; जब साधारण शक्ति द्वारा अधर्म्मका निराकरण नहीं हो सकृता; तबही दयामय श्रीभगवान्से रहा नहीं जाता, और वे तब भक्त जीवों पर कृपावशहो आविर्भूत होकर अपनीही प्रचारित कर्म्म मर्य्यादाकी रक्षा किया करते हैं ॥

प्राणित्वान्न विभूतिषु ॥ ९० ॥

जीव होनेके कारण उनके विभूतिगण भक्ति दान नहीं करसकते ॥ ९० ॥

एकमात्र श्रीभगवान् ही भक्तको भक्ति दान करसकते हैं; ब्राह्मण, राजा आदि उनकी विभूति हैं इसमें कोई सन्देह नहीं, और अपनी विभूति शक्तिके अनुसार वे बहुतसी बातें देसकते हैं परन्तु वे जन्म-मरण-शील जीवही हैं इस कारण वे भगवत् शक्तिका पूर्ण प्रकाश रूप भक्ति दान नहीं कर सकते वे आपही जैवी मलीनताको धारण किये हुए हैं भक्ति रूप प्रकाश देनेको कहांसे लावेंगे। मायातीत महामाया महावैष्णवीशक्तिही भक्ति रूपिणी है, विभूति के साथ उनकी स्थिति कहाँ; पूर्ण भगवत् रूपमेंही व नित्य विराजा करती हैं। इस सूत्रसे और भी तात्पर्य्य है कि विभूति द्वारा केवल साधारण कार्य्यही निकल सकता है, परन्तु असाधारण और अलौकिक कार्य्यके करनेमें उनको स्वयंही क्रिया करनी पडती है ॥

द्यूतराजसेवयोः प्रतिषेधात् ॥ ९१ ॥

द्यूत क्रीड़ा और राज सेवा निषेधके कारण हैं ॥ ९१ ॥

श्रीमद्भगवतगीता आदि भगवत् वाक्यों द्वारा द्यूत-क्रीड़ा अर्थात् जुआ खेलना और राजा दोनों ईश्वरकी विभूति हैं। परन्तु धर्म्मशास्त्रोंमें द्यूतक्रीडाको बहुतही वर्जित किया है, और वह अधर्म्म है ऐसा वर्णन किया है; और उसी प्रकार मुमुक्षुओंके लिये राजसेवाको भी हानि-कारक कहा है। ईश्वरही सर्वशक्तिमान् और सबसे बड़े हैं; परन्तु छुटाई बड़ाई के विचारसे प्रत्येक जाति में भी श्रेष्ठतरको ईश्वर विभूति कहके वर्णन किया गया है;

सब वर्णों में से ब्राह्मण वर्ण श्रेष्ठ होनेके कारण ही ईश्वर विभूति है, इसी कारण मनुष्योंमें राजा शक्तिवान् होने के कारण राजा भी ईश्वर विभूति समझा गया है । परन्तु ईश्वर और ईश्वर विभूतिमें बहुत ही भेद है; जगत (संसार) में छुटाई बडाईके क्रम से विभूति की सृष्टि हुई है और उन विभूतियों की शक्ति जैवी होनेके कारण नियमित ही हुआ करती है; किन्तु ईश्वर सृष्टि से अतीत है, और सृष्टि कारिणी शक्ति इन के आधीन होनेसे वे सर्वशक्तिमान् हैं । इस कारण विभूतियोंसे न तो भक्ति लाभ की आशा है और न सृष्टि के रक्षार्थ बृहत् कार्य्य होने की सम्भावनाही है ॥

वासुदेवे प्रीतिचेन्न आकारमात्रत्वात् ॥ ५२ ॥

वासुदेवें अर्थात् श्रीकृष्णचन्द्र में विभूति की आशंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि वे पूर्ण स्वरूप आनन्दके आकार हैं ॥ ५२ ॥

अब पूर्व्व विचार को स्पष्ट करनेके अर्थ महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि श्रीकृष्णचन्द्र आदि अवतारों का देह जीवदेह नहीं हैं, वे सच्चिदानन्द विग्रह रूप हैं; केवल जीवके हितार्थ अपनी अलौकिक शक्ति द्वारा श्रीकृष्ण आदि रूप से स्वयं श्रीभगवान् ही आविर्भाव हुये थे । इस कारण श्रीकृष्ण आदि अवतार को विभूति समझना उचित नहीं है। इस सूत्र से यही तात्पर्य्य हैकि विभूति कुछ और पदार्थ है, परन्तु अवतार से उन का साक्षात् सम्बन्ध है । अवतार भगवत् रूप ही है ॥

प्रत्यभिज्ञान्नाच्च ॥ ५३ ॥

यह शास्त्र ज्ञान से भी प्रतिपादित हो चुका है ॥ ५३ ॥

पूर्व सूत्रोंमें युक्ति द्वारा अवतारवाद सिद्ध करके अब

महर्षि सूत्रकार आप्त प्रमाण द्वारा उस विचार की दृढ़ता स्थापन कर रहे हैं । और कह रहे हैं कि ईश्वर-अवतार वाद को नाना आचार्य्योंने ही अपने नाना ग्रन्थोंमें प्रतिपन्न किया है; इस कारण अब विचार में कोई भी सन्देह नहीं रहा । श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीरामगीता, श्रीभगवतीगीता आदि गीताओं में, महाभारत और रामायण आदि इतिहासों म और ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, लिङ्ग, गरुड, नारद, भागवत, अग्नि, स्कंद, भविष्यत, ब्रह्मवैवंत, मार्कंडेय, वामन, वराह, मत्स्य, कूर्म्म, और ब्रह्माण्ड आदि पुराणोंमें भगवत् अवतारोंका विस्तारित वर्णन नाना आचार्य्य गण द्वारा कीर्तन होचुका है । जब प्राचीन सब आचार्य्यगण ने ही एक वाक्य होकर इस विचार का समर्थन किया है तब सन्देह करनेका स्थान नहीं रहा ॥

वृष्णिषु श्रेष्ठत्वमेतत् ॥ ५४ ॥

यह वृष्णिवंशके मर्य्यादा बढानेके अर्थ है ॥ ५४ ॥

कहीं कहीं श्रीकृष्णचन्द्र का नाम विभूतियों में आता है ऐसा देखकर यदि जिज्ञासुगण सन्देह करने लगें;अथवा जब स्वयं श्रीभगवान् अपने आपको ही श्रीमद्भगवद्गीतामें विभूति कहरहे हैं ऐसा देखते हुए जिज्ञासुगण कदाचित् शंकायुक्त हों; इस कारण महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि वैसा कहना वृष्णि वंश के मर्य्यादा बढानेके अर्थ ही है । अर्थात् वृष्णि वंशमें श्रीकृष्णचन्द्र को विभूति कहने का तात्पर्य्य यह है कि वह वंश इतना श्रेष्ठ है कि जिसमें साक्षात् श्रीभगवान्जी मनुष्य जन्म ग्रहणकर उस कुलके शिरोमणिरूपेण प्रकट हुये थे । वास्तवमें वासुदेव विभूति

नहीं हो सकते; वे साक्षात् ईश्वर अवतार ही हैं इसमें कोई भी सन्देह नहीं। द्वितीयतः श्रीमद्भगवत्गीता में जैसे उन्होंने विभूतियोंमें अपने आपको गिनाया है, वैसेही उन्होंने अपने आपको सच्चिदानन्दमय परमात्मा कहके भी तो सिद्ध किया है इस कारण उनके वाक्य द्वारा ही अपने इस विचारकी सिद्धि होती है॥

एवं प्रसिद्धेषु॥ ५६॥

और और प्रसिद्ध अवतारोंमें भी ऐसा ही है॥ ५६॥

पूर्व्व सूत्रोंमें केवल श्री कृष्णचन्द्रका नाम देखकर यदि जिज्ञासुगण विचलित होने लगें और यह शंका करने लगें कि सूत्रकारने केवल श्रीकृष्णचन्द्र का नाम क्यों लिखा है? क्या वेही पूर्ण अवतार थे? ऐसे प्रश्नोंके उत्तर में जिज्ञासुओंके हृदयकी शंका दूर करनेके अर्थ महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि जैसा श्रीकृष्णचन्द्र का नाम लिया गया वैसाही श्रीरामचन्द्र आदि प्रसिद्ध अवतारोंको भी समझना उचित है। पूर्व्व सूत्रोंमें केवल विचार किया गया है। इस कारण ही श्री वासुदेवका नाम आया है, परन्तु वह उदाहरण रूपेण ही आया है; तात्पर्य्य यह है कि जैसा श्रीकृष्णचन्द्रको विभूति समझनेमें दोष होगा वैसे ही और और प्रसिद्ध अवतारोंमें भी विभूति-ज्ञान करनेसे दूषण ही है। विभूति जीव जगत्का व्यापार है, परन्तु अवतार साक्षात् ईश्वर रूप ही हैं। इस सूत्रमें "प्रसिद्ध" शब्दका अर्थ पूर्ण अवतारसे ही है, सृष्टिमें आवश्यक कार्य्योंकी गुरुता के अनुसार बहुवार श्रीभगवान्ने पूर्णकला-विशिष्ट होकर अवतार ग्रहण किया है; यह प्रसिद्ध शब्द यहां पूर्णता वाचक है। पूर्ण अतवारके अन-

न्तर अंशरूपेण भी बहुबार श्रीभगवान् जन्म ग्रहण किया करते हैं वे अंशअवतार कहाते हैं । और उसके सिवाय सदा सब कालोंमें ही वे मुक्तात्मा महापुरुषोंके हृदयमें आविर्भूत रहकर भी संसारका कल्याण किया करते हैं ॥

द्वितीयाह्निकः ।

भक्त्या भजनोपसंहाराद्गौण्यापरायैतद्धेतुत्वात्॥५६॥

भक्ति शब्द यहां अब गौणभिक्तिका प्रतिपादक है; भजन और सेवाही गौणीभक्ति है, और यह गौणीभक्ति पराभक्तिकी भीति रूप है ॥ ५६ ॥

अब महर्षि सूत्रकार पराभक्ति अर्थात् यथार्थ भक्तिकी सहायकारी गौणी-भक्तिका वर्णन कर रहे हैं। और कह-रहे हैं कि अब यहां भक्ति शब्दको गौणीभक्तिका वाचक समझना उचित है । भगवत्-भजन और भगवत्-मूर्ति आदि की सेवा इत्यादि हीको गौणीभक्ति कहते हैं । भक्ति मार्गके साधकको जो नाना विघ्नोंकी सम्भावना रहती है गौणीभक्ति रूप साधनसे उन सब विघ्नोंका नाश होजाता है; और क्रमशः साधक भक्ति-मार्गमें उन्नत होता हुआ पराभक्तिका अधिकारी होजाता है, भक्तोंको यह सहाय कारी है इस कारण इसको आचार्य्य गणोंने भक्तिकी भित्ति कहके वर्णन किया है । प्रथम अधिकारियोंके लिये गौणी-भक्ति ही उपयोगी है, और सकल प्रकारके उपासकोंको यह गौणी भक्ति ही सहायक रूप होकर क्रमशः भक्ति-राज्यमें उनको पहुंचायकर मुक्तिपदका अधिकार दिला देती है । जैसे ''क'' आदि वर्णही आदि रूप होकर

विद्यार्थी गणोंके अर्थ ब्रह्मज्ञान शिक्षामें प्रथम सहायक होते हैं; विद्यार्थी गण प्रथममें वर्ण, वर्णसे शब्द, शब्द से शब्दार्थ, शब्दार्थसे भाव--बोध और तत्पश्चात् वेद-ज्ञानकी प्राप्ति द्वारा परम कल्याणको प्राप्त करते हैं; इसी प्रकार गौणी--भक्तिही भक्त साधकोंके अर्थ प्रथम और प्रधान अवलम्बन है ॥

रागार्थे प्रकीर्तिसाहचर्य्याच्चेतरेषाम् ॥ ९७ ॥

नमस्कार और नाम कीर्तन आदि अनुरागके अर्थ हैं ॥ ९७ ॥

अब गौणीभक्तिका साधन वर्णन कर रहे हैं । भगवान् की स्तुति करना, उनके चरणोंमें बारंबार प्रणाम करना, उनका नाम और गुण गान करना, उनकी लीला-भूमि तीर्थ आदि दर्शन करना, उनकी मूर्तिको अङ्गराग, नैवेद्य, आरती, आदिसे पूजा करना, इत्यादि सबही गौणी भक्तिके अन्तर्गत हैं; और गौणी भक्तिसेही अनुरागकी वृद्धि होती रहती है; इस प्रकार क्रमशः साधक भगवत्-कृपासे पराभक्तिका अधिकारी होजाता है । यह सूत्रोक्त वर्णनही गौणभक्तिका लक्षण और साधन अङ्ग है ॥

अन्तराले तु शेषाः स्युरुपास्यादौ च कांडत्वात्॥९८॥

श्रीमद्भगवत्गीता में भी इस उपासनाकांड रूप गौणीभक्ति का वर्णन है ॥ ९८ ॥

अब महर्षि सूत्रकार पुनः पूर्व्व विचारका आप्त प्रमाण देर हेहैं; और कह रहेहैं कि श्रीमद्भगवत्गीताके नवम अध्या-यमें श्रीभगवानने निज मुखसेही गौणीभक्ति रूप भक्ति-साधनका वर्णन किया है यथा, " सततं कीर्तयंतो मां यतं-तश्च दृढव्रताः । नमस्यंतश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजंतो मामुपासते । एकत्वेन पृथक्त्वे-

न बहुधा विश्वतो मुखम्॥'' अर्थात् कोई कोई भक्त मेरा गुण कीर्तन करके, कोई कोई दृढ़ नियम युक्त तपस्या करके, कोई कोई भक्ति पूर्वक मुझे प्रणाम करके, कोई कोई सर्वदा एक मन होकर ध्यान करके, कोई ज्ञान यज्ञ द्वारा मेरी उपासना करके, कोई कोई अहंकार रहित होकर दास रूपसे मेरी पूजा करके, और कोई कोई भक्त मुझे सर्वात्मक जानके नानारूपसे मेरी उपासना किया करते हैं ॥

ताभ्यः पावित्र्यमुपक्रमात् ॥ ५९ ॥

गौणीभक्तिके द्वारा पवित्रता लाभ होती है ॥ ५९ ॥

सूत्रकार महर्षि पूर्व्व सूत्रोंसे गौणी भक्तिका रूप वर्णन करके अब गौणी भक्तिका फल कहते हैं। श्रद्धापूर्व्वक भगवत्-सेवा और भगवत् नाम कीर्तन आदि रूप गौणी-भक्तिका साधन करते करते साधकके अन्तःकरणकी वृत्तियां पवित्र हो जाती हैं; और यह अन्तःकरणकी शुद्धि ही गौणी भक्तिका फल है। जब अन्तःकरण शुद्ध होजाता है तद्-पश्चातही साधक निर्मल पराभक्तिका अधिकारी हो सकता है। जिस प्रकार कंचुकी भृङ्ग जब तैलपाई कीट को पकड़ कर रखता है तब क्रमशः वह तैलपाई कीट कंचुकी भृङ्गका ध्यान करते करते उसके रूपको प्राप्त करलेता है; उसी प्रकार साधक गौणी-भक्ति साधन द्वारा भगवन्नाम संकीर्तन और भगवद्गुणोंका मनन करते २ क्रमशः शुद्ध अन्तःकरण होकर भगवत् दर्शन द्वारा मुक्ति-पदको प्राप्त कर लेता है॥

तासु प्रधानयोगात् फलाऽऽधिक्यमेके ॥ ६० ॥

कोई कोई आचार्य्य गौणी-भक्तिकी प्रधानताके कारण अधिक फल मानते हैं ॥ ६० ॥

अमृत रूप और मुक्ति रूप परा-भक्तिके प्राप्त करनेमें

गौणी-भक्ति ही को प्रधान सहायक मान कर कोई कोई आचार्य्य ऐसा कहते हैं कि जब गौणी भक्ति की सहायता से परा-भक्ति लाभ होती है तो गौणी-भक्ति ही प्रधान है। जैसे संसार का आदि कारण बालक वृद्धसे अधिकतर प्रिय समझा जाता है, उसी साधारण विचारके अनुसार कारण सम्बन्धसे गौणी-भक्तिकी भी प्रशंसा कोई २ आचार्य्य गण किया करते हैं ॥

नाम्नेति जैमिनिः सम्भवात् ॥ ६१ ॥

आचार्य्य जैमिनि उसको प्रधान नहीं कहते, और और स्थानोंमें उसका नामही लिया गयाहै ॥ ६१ ॥

गौणी भक्तिको प्रधान मानने वाले आचार्य्योंके मतको देखकर यदि कोई जिज्ञासु विचलित होजायँ इस कारण सूत्रकार महर्षिने इस सूत्रका आविर्भाव किया। कर्म्म-कांड, ज्ञान कांड और भक्ति कांड; यथा नियमसे यह तीन प्रकारका अधिकार साधकको हुआ करता है; अर्थात् कर्म्म-कांड साधनसे चित्त निर्मल होकर ज्ञानकी प्राप्ति होती है, और ईश्वर ज्ञान से ही पराभक्ति लाभ होती है। इन तीनों अधिकारोंमें से प्रथम अधिकार कर्म्म कांड है; कर्म्म कांडके प्रधान प्रवर्त्तकोंमें महर्षि जैमिनि अग्रगण्य हैं; इस कारण यहां उनका मत लिखा गया, कि वे गौणी-भक्तिको प्रधान नहीं कहते हैं; गौणी भक्ति अपने नामके अनुसार गौणही है। और यदि ऐसा सन्देह हो कि श्रीमद्भगवत्गीता आदि शास्त्रोंमें परा-भक्तिके साथ गौणी-भक्ति का मेल कैसे हुआ ? इसके उत्तरमें महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि वह वर्णन गौणी-भक्ति की श्रेष्ठता दिखानेके अर्थ नहीं है; परन्तु भक्ति-भेद की संख्या दिखाने के अर्थ ही है । इस सूत्र से महर्षि

सूत्रकार का यही तात्पर्य्य है कि भक्ति शब्द वाच्य तो पूर्व कथित परा-भक्ति ही हो सकती है; और यह गौणीभक्ति अपने नामके अनुसार निम्न अधिकार का पदार्थ है, परंन्तु वह प्रथम अधिकारियोंके लिये उपकारी है इसमें कोई भी सन्देह नहीं ॥

अत्राङ्गप्रयोगानां यथाकालसंभवो गृहादिवत् ॥६२ ॥

इस स्थानपर गृह आदिका अंगस्थानके नाई यथा कालमें अंगप्रयोग-मात्र समझना उचित है ॥ ६२ ॥

अब पूर्व विचार को और भी स्पष्ट करनेके अर्थ महार्षि सूत्रकारजीने इस सूत्रका आविर्भाव किया है । और कहते हैं कि, जिस प्रकार कोई मनुष्य गृह, अट्टालिका आदि बनाना चाहे, तो पहले उसके लिये भित्ति स्थापन करेगा अर्थात् नींव रक्खेगा, पुनः उस नींव पर गृह निर्माण होता हुआ अन्तमें एक बृहत् अट्टालिका बन जायगा । उसी प्रकार सूत्रकार महार्षि कहते हैं कि जैसे गृह बननेसे पहले भींति स्थापन कीजाती है वैसेही गौणी भक्ति साधन करते करते चित्त निर्मल होकर क्रमशः पराभक्तिका उदय होजाता है यदि च गौणीभक्ति प्रधान नहीं है परन्तु वह पराभक्तिका पूर्व कारण रूप है इसमें कोई सन्देह नहीं ॥

ईश्वरतुष्टेरेकोऽपिबली ॥ ६३ ॥

ईश्वर के प्रीत्यर्थ एकमात्र साधन भी बलवान् है ॥ ६३ ॥

गौणीभक्तिका रूप और फल आदि वर्णन करके अब सूत्रकार महार्षि गौणी--भक्ति द्वारा क्रमोन्नति का नियम वर्णन करते हैं । यदि साधक ऐसा अभ्यास किया करे कि जो कुछ कर्म्म वह करे उसको मन में अभ्यास करता रहे कि वह सब ईश्वर प्रीत्यर्थ करही रहा हूं, अर्थात् अपना

स्वार्थ उन कर्म्मों से दूर करके भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म्मोंका साधन करता रहे; तो साधककी अवश्य क्रमोन्नति हो जायगी । भगवत्प्रीत्यर्थ साधन अर्थात् निष्काम कर्म्मका अभ्यास करनेसे अवश्य साधक पराभक्ति का अधिकारी होजाता है ॥

अबन्धोऽर्पणस्य मुखम् ॥ ६४ ॥

अर्पण से बन्धन मुक्त होजाता है ॥ ६४ ॥

कर्म्म फल त्यागका अभ्यास करते करते क्रमशः साधक निष्काम होकर बन्धनमुक्त होजाता है; कर्म्म के फल ही ने जीवोंका पाप पुण्य,सुख दुःख रूप फन्देमें फँसा रक्खा है, जब साधक अपने कर्म्मों का फल ईश्वर में अर्पण कर देता है तो फिर वह कर्म्म दग्धबीज के नाईं और कोई नया प्रारब्ध सृष्ट नहीं कर सकता; और जब नया प्रारब्ध सृष्ट नहीं होगा तब आपही आप जीव मुक्तिपदको प्राप्त होजायगा । इस विचार को और रीतिपर भी समझ सकते हैं कि अहंकार ही जीवको कर्म्मबंधनमें बांध रहा है क्योंकि जीव सदा अपनी योग्यता पर भरोसा करके ऐसा मानने लगता है कि मैं अपने पुरुषार्थ से ही दुःखकी निवृत्ति और सुख की प्राप्ति कर सकताहूं; यह आत्मनिर्भर रूपी अहंकार ही जीवको त्रिताप रूपी दुःख प्राप्त कराया करता है । परन्तु जब गौणीभक्ति साधन द्वारा जीव निरहंकार होता हुआ निष्काम कर्म्म अभ्यास करता रहेगा; और यह समझता रहेगा कि मेरे किये हुए कर्म्मों से मेरा कोई भी संबन्ध नहीं, मैं जो कुछ करताहूं वह भगवत् प्रीत्यर्थ ही करताहूं; तब क्रमशः आपही आप माया बीज अहंकार जीव के हृदय से दूरीभूत होजायगा, और क्रमशः सउका चित्त

निर्मल होता हुआ मुक्ति फल दायक पराभक्ति को प्राप्त कर लेगा । श्रीमद्भगवत्गीता में श्रीभगवान्ने अर्जुन जी को इस निष्काम कर्म्म द्वारा कैवल्यपद प्राप्त करनेका उपदेश बिस्तारित रूपेण दिया है ॥

ध्याननियमस्तु दृष्टसौकर्यात् ॥ ६९ ॥

जिस भाव के ध्यान करने से नेत्र तृप्त होते हों उसी भावके चिंतन करनेका नाम ध्यान है ॥ ६९ ॥

श्रीभगवान्के अनन्त रूपों में से जिस रूप विशेष में साधक का मन स्वभावसे ही लगजावे उस ही को चिन्तन करना उचित है, और वही चिन्तन ही ध्यान है । बल से कोई मूर्ति विशेष का ध्यान करने से साधक को विशेष फल नहीं मिलता है; और इस ही रुचि विरोध के कारण सनातनधर्म्म में पञ्च उपासना और इन पांच देवताओं में से प्रत्येक के नाना रूप कहे हैं अनन्त रूप धारी भगवान्के जिस रूपके दर्शन करनेसे साधक के बहिर्नेत्र तृप्त होते हों और जौन सा रूप चिन्तन करनेसे उसके अन्तःनेत्र शान्ति प्राप्त करते हों उसी रूप का ध्यान करना ही उस साधक के लिये विधि है।जब यह संसारपंचभौतिक है,जब यह संसार त्रिगुणकी लीला भूमि है, तब सब जीवोंका प्रवृत्ति और प्रकृति एकरूप नहीं होसकती;औरइसी प्रकृति और प्रवृत्ति बिचित्रता के कारण और प्रकृति प्रायःपंचधाहोनेके कारण पांच प्रकार की उपासना पद्धति की सृष्टि हुई है । और तद्पश्चात् प्रवृत्ति बिचित्रता के कारण प्रत्येक देवता के अनेक रूप शास्त्रों में वर्णित किये गये हैं । साधक जब अपने प्रियतम जगन्नाथ श्रीभगवान्को चिन्तन करना चाहे तब उसको उचित है कि, अपनी प्रवृत्ति और प्रकृतिके

अनुसार उसकी रुचि जिस देवता अर्थात् श्रीभगवान्के जिस भावमें हो उसी मूर्तिका ध्यान करे; अर्थात् पंच उपासनाओंमें से उसी उपासनाका अवलम्बन करे। सनातन रीति यही है कि, श्रीगुरुदेव शिष्यको उसकी प्रवृत्ति और प्रकृतिके अनुसारही उपासनाकी दीक्षा दिया करते हैं। योगिराज महर्षि पतञ्जलिजीने अपने योग दर्शनमें इस कारण ही कहा है, "अथाभिमतध्यानाद्वा" अर्थात् अभिमत ध्यान द्वारा भी साधक क्रमशः कैवल्यपद की ओर अग्रेसर हो सकता है॥

तद्यजिः पूजायामितरेषां नैवम् ॥६६॥

भगवत्पूजाके विना और प्रकार अनुष्ठानको यजन कहते हैं॥ ६६॥

एकमात्र ईश्वरकी उपासनाके सिवाय और यज्ञ, व्रत और नाना फलदायक देवताओंकी उपासना आदि जितने कर्म्म हैं उनको यजन कहते हैं। केवल भगवत् उपासनासेही जीव क्रमशः उन्नत होता हुआ मुक्तिपदको प्राप्त कर लेता है; परन्तु भगवत् उपासनाके सिवाय जो और नाना प्रकारके यज्ञ, व्रत और सकाम पूजा आदि हैं वे सब बन्धनके कारण ही हैं। यदिच यज्ञ और व्रत आदि सकाम कर्म्मोंसे जीवको स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति होती है, और जीव क्रमशः गुणकी उन्नति करता है; अर्थात् तम गुणसे रज गुण, और रज गुणसे सत्त्वगुण की ओर अग्रसर होता है; तत्रच उनके साधन द्वारा वह बन्धन अवस्थामें ही रहता है। जैसे लोहमय शृंखल और सुवर्णमय शृंखल दोनों बन्धनकारी शृंखल ही हैं, अर्थात् मनुष्यके पैरमें चाहे लोहेकी शृंखल डालो और चाहे सुवर्णमय शृंखल डालो दोनोंसे ही वह बन्धन

को प्राप्त हो जायगा, वैसे ही सकाम कर्म्म समूह कितने ही उन्नत हों वे जीवगणोंको बाधा ही करते हैं। इस सूत्रसे यही तात्पर्य्य है कि भगवत् उपासनाके सिवाय और सब सकाम कर्म्म ही यजन कहाते हैं और केवल एक मात्र भगवत् उपासना द्वारा ही जीव मुक्तिपद प्राप्त कर-सक्ता है ॥

पादोदकं तु पाद्यमव्याप्ते ॥ ६७ ॥

भगवत् मूर्तिके स्नान जलको ही भगवत् पादोदक समझना उचित है ॥ ६७ ॥

अब महर्षि सूत्रकार गौणी भक्तिके और और अंगोंका वर्णन कर रहे हैं। और कहते हैं कि जैसे माता पिताका चरणोदक और गुरु चरणोदक श्रद्धा वृद्धि करनेके अर्थ बहुत ही उपकारी है; वैसे ही भगवत् मूर्तिका चरणोदक अर्थात् स्नानजल ग्रहण करनेसे भगवत् भक्तिकी स्फूर्ति होती है, भावना सेही भगवत् विग्रहमें सर्वव्यापी भगवान् का आविर्भाव होजाता है, तो इस कारण विग्रह स्नान जलही भगवत् चरणोदक है, इसमें सन्देह नहीं ॥

स्वयमर्पितं ग्राह्यमविशेषात् ॥ ६८ ॥

अपनी समर्पणकी हुई वस्तु ग्रहण करना उचित है क्योंकि उसमें कोई भी विशेषता नहीं है ॥ ६८ ॥

श्रीभगवान विग्रहको जब कोई निवेदन कर दिया जाता है तो फिर उस वस्तुसे अपना सम्बन्ध नहीं रहता; क्यों कि वह तब भगवत्प्रसाद होजाता है । "मेरी वस्तु मैं कैसे ग्रहण कर सकता हूं" ऐसा विचार उस भगवत् प्रसाद के साथ करना अनुचित है; क्योंकि जब तक वस्तु निवेदन नहीं की गई थी तब ही तक उस वस्तुसे साधकका

संबंध समझा जा सकता है, परन्तु भगवत् सेवा के अर्थ निवेदन कर देनेके अनन्तर उससे और कोई भी सम्बन्ध नहीं रह जाता है; और तब उन निवेदित वस्तुओंसे जैसे और भक्तों का सम्बन्ध है वैसे ही निवेदनकर्ता का भी संबन्ध हो जाता है। इसकारण अपनी निवेदन की हुई वस्तुको भगवत् प्रसाद समझ कर ग्रहण करना उचित है॥

निमित्तगुणानपेक्षणादपराधेषु व्यवस्था ॥ ६९॥

निमित्त, गुण, और अनपेक्षा के अनुसार से अपराध निर्णय किया गया है ॥ ६९ ॥

भगवत सेवा करनेमें साधक जो कुछ अपराध कर सक्ता है इन सबों को तीन भागमें विभक्त किया है। प्रथम प्रकारका अपराध वह कहाता है कि जो अनिच्छासे एक एक होजाय, उसको निमित्त अपराध कहते हैं। दूसरे प्रकार का अपराध वह है कि जो साधक के स्वभाव दोषसे प्रायः ही हुआ करे, इसको गुण अपराध कहते हैं और तृतीय प्रकारका अपराध उसको समझना चाहिये कि जो साधक के भ्रमसे होगया हो, इस को अनपेक्षा अपराध कहते हैं। प्रथम अपराधसे दूसरे प्रकारका अपराध, और दूसरेसे तीसरे प्रकारका अपराध अधिक दोषदायक है। अपराध तमगुणके कारण हुआ करते हैं; इस कारण साधक को उचित है कि सदा सावधान होकर युक्त चित्त से भगवत सेवा किया करे॥

पत्रादेर्दानमन्यथा हि वैशिष्टयम् ॥ ७० ॥

पत्र, पुष्प आदि दानमें एकही फल है ॥ ७० ॥

श्रीभगवान्को चाहे बहु मूल्य पदार्थ निवेदन करो चाहे अल्प मूल्य पदार्थ उत्सर्ग करो चाहे अच्छे अच्छे

६

मिष्टान्न आदि श्रेष्ठ पदार्थ दान करो चाहे फल मूल आदि-सेही पूजा करो उन के सामने सब एकही हैं । स्मृतिकारों ने भी कहा है कि, "देवता भक्तिमिच्छन्ति," अर्थात् भगवान् के सामने चाहे नाना प्रकारके पदार्थ रक्खो और चाहे सर्व वेद मंत्रों का पाठ करजाओ, परन्तु फल उतना ही होगा कि जितनी भक्ति साधकमें होयगी ॥

सुकृतत्वात्परहेतुश्च भावाश्च क्रियासु श्रेयस्य ॥ ७१ ॥

यह सब कार्य परा भक्तिमें पहुँचनेके हेतु रूपहैं, एवं सब प्रकारके पुण्य कार्य्योंमें श्रेष्ठ हैं ॥ ७१ ॥

इस प्रकारकी गौणी भक्ति कि जिसका वर्णन पूर्व सूत्रोंमें आया है उसका साधन करते करते ही क्रमशः साधक नि-र्मल बुद्धि हो पराभक्तिका अधिकारी होजाता है । इसी कारण इन सब गौणी भक्तिके साधनों को परा भक्तिकी प्राप्तिका हेतु करके वर्णन किया है । पुण्य कार्य्य करनेका फल यह है कि साधक पुण्य संचय द्वारा क्रमशः उच्च लोकों को प्राप्त करता हुआ भगवत् लोकका अधिकारी होजाता है; जब गौणीभक्तिसे एका एक ही भगवत् साक्षात्कारकी सम्भावना है, तो उस साधनसे और अधिक पुण्यजनक कार्य्य क्या हो सकता है । वेद विहित सत्कर्म्म अनुष्ठान द्वारा जीव क्रमशः उच्चतर लोकोंकी प्राप्ति किया करता है, और पुनः उच्च लोकोंमें जीव ससतंग प्राप्त द्वारा क्रमशः ब्रह्मज्ञान लाभ कर सकता है; अर्थात् सत्कर्म्म साधनसे जीवको भगवत् ज्ञान प्राप्ति करने का अवकाश मिलता है; परन्तु गौणी भक्ति द्वारा भगवत् उपासना करते करते जीव स्वतः ही पराभक्ति लाभद्वारा मुक्त हो जाताहै; इस कारण यह कहना ही पडेगा कि गौणी भक्तिका साधन सत्कर्म्म साधनोंसे अति उत्तम ही है ॥

गौणं त्रैविध्यमितरेण स्तुत्यर्थत्वात् साहचर्यम् ॥७२॥

गौणी भक्ति तीन प्रकारकी होती है, उनके साथ ज्ञानी भक्तिका नाम केवल मर्य्यादा बढानेके अर्थ ही आया है ॥ ७२ ॥

श्रीमद्भगवद्गीतामें भक्तिमार्गका वर्णन करते समय श्रीभगवान्ने आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानीके नामसे चार प्रकारकी भक्ति वर्णन की है । सूत्रकार महर्षि कहते हैं कि उन चार प्रकारकी भक्तियोंमेंसे प्रथम तीन प्रकारकी भक्तियां गौणी भक्तिका भेद हैं और चतुर्थ ज्ञानी भक्तिही पराभक्ति है; इस ज्ञानी भक्तिका वर्णन उन तीन प्रकारकी गौणी भक्तियोंके साथ करनेके कारण केवल गौणी भक्तिकी प्रशंसा करनेके अर्थही है । आर्त भक्त उसे कहते हैं कि जो विपत्तिमें पडके अपने उद्धारार्थ श्रीभगवान्के शरणापन्न होताहै । जिज्ञासुभक्त उसे कहते हैं कि जो भगवत्तत्त्व जाननेके अर्थ शास्त्रमें गुरु वाक्यमें विश्वास करके और भगवद्भक्ति करताहो । और अर्थार्थीभक्त उसे कहते हैं कि जो अपनी किसी कामनाकी सिद्धि करनेके अर्थ श्री-भगवान्में भक्ति करताहो । इस सूत्रका यही तात्पर्य्य है कि सत्त्व, रज और तमगुणके भेदसे गौणी भक्तिके साधक गणों के आर्त, जिज्ञासु, और अर्थार्थी नामसे तीन भेदहैं । और इन तीनोंके उपरान्त जो ज्ञानी भक्त नाम शास्त्रोंमें देख पड़ता है वह भक्ति श्रेष्ठ पराभक्तिके अधिकारी गणोंके अर्थही है ॥

बहिरन्तरस्थमुभयमवेष्टि सर्ववत् ॥ ७३ ॥

यज्ञका अवेष्टि और सबके नाई भीतर और बाहर दोनोंमें समझा जाताहै ॥ ७३ ॥

यज्ञका अवेष्टि (यज्ञका द्रव्यविशेष) कभी कभी यज्ञ का अन्तर्गत और कभी कभी यज्ञका बहिरंग करके

वर्णन किया है । " बृहस्पति सव " वाजपेय यज्ञका अंश समझा जाता है, परन्तु कहा कहीं वेदमें उसको अलगही करादिया है । इसी प्रकारसे कीर्तन आदिमें भक्तिका उदय होता है इस कारण उसको पराभक्तिके अन्तर्गत कह सक्ते हैं; परन्तु उसमें विशेष रुचि रहनेसे वही गौणीभक्ति होजाती है । इस सूत्रसे तात्पर्य्य यह है कि गौणी भक्तिके सब साधनोंमें रुचि और कर्त्तव्य बुद्धि रहती है तबतक उनका साधनही गौणीभक्ति कहाताहै; परन्तु यदि विधि निषेधसे रहित होकर स्वतःही उन साधनोंको पराभक्तिके अधिकारीगण करें तब वही गौणीभक्तिसे अलग समझा जायगा, अर्थात् जबतक विधि निषेध है जबतक कर्त्तव्य बुद्धि है तभीतक गौणीभक्ति कहावेगी; और उससे आगे तदाकार भावमें पहुँचनेसे वही अवस्थापर भक्ति कहलाने लगेगी ॥

भूयसामननुष्ठितिरितिचेदाप्रयाणमुपसंहारान्महत्स्वपि ॥ ७४ ॥

भक्त लोग अधिक कर्म्म नहीं करते हैं ऐसा नहीं है भेद इतनाही है कि वे सब इस नियमके आधीन होजाते हैं ॥ ७४ ॥

जैसे कर्म्मी लोग नाना प्रकारके सत्कर्म्म, याग, यज्ञ और तपस्या आदि सत्कर्म्म अनुष्ठान किया करते हैं; उसीप्रकार भक्तगणभी सत्कर्म्म करते हैं; परन्तु भेद इतनाही है कि कर्म्मी लोग कर्म्ममें फँसे रहते हैं, और भक्तगणोंकी मनोवृत्ति श्रीभगवान्में रहनेके कारण उनकी दृष्टि कर्म्मकी ओर रहतीही नहीं । वह स्वभावसेही सत्कर्म्म किया करते हैं परन्तु कर्म्मके फलकी ओर देखतेही नहीं । यदि मुक्तपुरुष भगवत् भक्तगण सत्कर्म्म न करते

तो आजदिन सत्कर्म्मों का लोप जगत्से होजाता; यह मुक्तात्मा महर्षिगणों के निष्काम सत्कर्म्म साधन का ही कारण है कि आजदिन तक अनन्त वेदसम्मत शास्त्र प्रकटित रहकर त्रितापतापी जीवोंका उद्धार कर रहे हैं॥

स्मृतिकीर्त्त्योः कथादेश्चार्तौ प्रायश्चित्तभावात्॥ ७९ ॥

भगवत् नाम आदि स्मरण और कीर्तन करना आर्त भक्तगणोंका प्रायश्चित्त रूप है॥ ७९ ॥

आर्त भक्तगण जब भक्ति साधन द्वारा विपत्ति से मुक्त होकर भगवत् भक्ति प्राप्ति का चेष्टा करते हैं तो उससमय उनका ताप कैसे दूर होजाताहै? ऐसे प्रश्नों के उत्तरमें महर्षि सूत्रकार कह रहेहैं कि भगवत् नाम आदि श्रवण और कीर्तन द्वारा स्वतः ही उनका पाप दूर होजाता है। आर्तभक्त गण तीन प्रकारके गौणीभक्तोंमेंसे श्रेष्ठ और सत्त्वगुणावलम्बी होते हैं, इस कारण उनके अन्तःकरणमें सत्त्वगुणका प्रभाव रहनेके कारण उनका विश्वास श्रीभगवान्में अधिकही होता है और उनका चित्त भी भगवत्शरण में अधिकही लगता है इस कारण त्रितापहारी भगवान्को अधिक रूपेण स्मरण करने से शीघ्रही उनके पाप राशि का नाश होजाता है। भगवत् शरण लेनेसे भगवत् कृपा होती है और सर्वशक्तिमान् भगवान् की कृपा होनेसे स्वतःही त्रितापतापी भक्त के हृदयका ताप दूर होजाताहै॥

लघ्वपि भक्ताधिकारे महत्क्षेपकमपरसर्वहानात्॥ ७६॥

थोडीसी भक्ति उदय होनेपर भी महापातक का नाश होजाताहै॥ ७६॥

यह पूर्वही सिद्ध हो चुका है कि भक्तिद्वारा समाधि की प्राप्ति हुआ करती है; योग सूत्रोंमें इसका भी भलीभाँति

प्रमाण है कि क्षणिक समाधि से असंख्य महापाप नष्ट होजाते हैं इसकारण योगदर्शन युक्ति द्वारा यह सिद्ध ही है कि थोडीसी भक्ति उदय होतेही अनेकानेक पातकोंका नाश होजाता है। जीव जो कुछ कर्म्म करता है उसका संस्कार उसके चित्तपर रहजाता है; पुनः कालान्तर में वही संस्कार बीज वृक्षरूपेण प्रकाशित होकर जीवगणोंको त्रिताप ताप प्रदान किया करते हैं; परन्तु क्लेशों के प्रकाशित होनेमें वे चित्त संग्रहीत संस्कारही कारण होते हैं। समाधि अवस्था में साधक साम्यावस्था को प्राप्त करने पर उसका अन्तःकरण अपने स्वरूप को प्राप्त होजाताहै; अर्थात् सृष्टि विस्तार कालीन जैसे अन्तःकरण बहिर्मुख होकर तन्मात्रा द्वारा इन्द्रियोंमें, और इन्द्रिय विषयोंमें प्रविष्ट होकर सृष्टि कार्य किया करते हैं समाधि अवस्था में वैसा नहीं होता; तब अन्तःकरण अपने स्वरूप में ही रहता है और तन्मात्रा इन्द्रिय आदि भी उसी प्रकार अपने अपने रूपमेंही स्थित रहते हैं। सृष्टि कालीन अन्तःकरण के विभाग रूपी मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार अपना अपना यथावत् कार्य्य द्वारा सृष्टि किया करते हैं; अर्थात् अहंकार रूपी अहंतत्त्व अर्थात् अविद्या के बल से चित्त संस्कार संग्रह और प्रदान करनेमें, मन संकल्प विकल्प करनेमें और बुद्धि विचार करनेमें प्रवृत्त रहते हैं। परन्तु समाधि अवस्था में वैसा नहीं होता, इस अवस्थामें वे अपने अपने स्वरूप में लय होकर कार्य्योंको भूल जाते हैं और इसी प्रकार उनका समष्टिरूप अन्तःकरण अपने स्वरूप को प्राप्त होजाता है।भगवद्भक्ति प्राप्तिके कारण से साधक का अन्तःकरण समाधिस्थ होनेपर, निर्मलताके कारण उसमें भगवद्भाव रूपी सूर्य्य का प्रकाश स्वतःही

होजाता है; सूर्य्यके उदयसे तम रहही नहीं सकता इस कारण तब अहंकार रूपी अविद्या नाशको प्राप्त हो जाती है । अहंकारही चित्त आदि शक्तियोंकी क्रियाको करा रहाथा, जब अहंकार लोप हुआ तो चित्त आदि भी शक्तिहीन हो पडे; इस कारण समाधिसे अहंतत्त्वका लय, और अहंतत्त्वके नाशसे चित्तके लयके साथ पूर्व्वकर्म्म संस्कारोंका भी नाश हो जाता है और संस्कार नाश होतेही पुनः वृक्षरूप महापातक समूह भी स्वतःही नाशको प्राप्त होजाते हैं अर्थात् उनके बीजरूप संस्कार नाश होनेसे वह पुनः उत्पन्नही नहीं हो सकते । जितना भगवत्भक्तिका उदय होगा उतनाही साधकका अन्तःकरण समाधिस्थ होगा और जितन साधक समाधिस्थ रहेगा उतनाही पापरहित होजायगा; इस कारण यही सिद्ध हुआ कि थोडी सी भक्तिके उदय होने पर भी महा महापातकोंका नाश हो जाता है ॥

तत्स्थानत्वादनन्यधर्मः खलेवालीवत् ॥ ७७ ॥

भगवत्भक्तोंका भगवत्धर्म्म अर्थात् भक्ति क्षुद्र होने पर भी वह अनन्यताके कारण खरलमें बालाकी नाईं उनके महापाप भी नष्ट होजाते हैं ॥ ७७ ॥

पूर्व्व विचारको दृढ करनेके अर्थ उदाहरणरूपेण महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि, जैसे वैद्य गणोंका औषधि पीसने का यंत्र खरलमें बाला औषधि जितना देओ सबही पिस जाता है, वैसेही भगवतभक्तों के कर्म्मानुष्ठान कितनाही अल्प हो परन्तु भक्तकी अनन्यबुद्धिके कारण उसमें भगवतशक्तिका आविर्भाव होनेसे महा महापाप राशि भी चूर्ण विचूर्ण होकर नष्ट होजाते हैं । भगवत्भक्तिका उदय होतेही न तो पाप और न पुण्य दोनोंही प्रकारके बंधन भक्तको

स्पर्श नहीं कर सके। श्रीमद्भगवत्गीतामें भी श्रीभगवान् ने निज मुखसे कहा है कि, "अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।" अर्थात् हे अर्जुन! तुम वैध और अवैध सब कामोंको त्याग करके केवल मेरेही शरण आओ, मैं तुम्हें तुम्हारे सब पापोंसे मुक्त करूंगा ॥

आनिन्द्ययोन्यधिक्रियतेपारम्पर्यात्सामान्यवत्॥७८॥

भगवत्भक्तिमें चांडाल आदिका भी अधिकार है. क्योंकि भगवत् भक्तगण भगवत्भक्तिकी मर्यादासे सब समान हैं ॥ ७८ ॥

अब महर्षि सूत्रकार भक्ति मार्गका दूसरा जीव हितकारी उपकार और विलक्षणता कह रहे हैं और कहते हैं कि भगवतभक्तिमें चांडाल पर्य्यन्त सबहीका अधिकार है। वैदिक कर्म्म और व्रत तपस्यादिमें सब मनुष्योंका समान अधिकार नहीं है क्योंकि उनमें वर्णाश्रमका विचार रक्खा गया है; ज्ञान और योगमें भी सब साधकों को अधिकार नहीं मिल सकता, क्योंकि उनके साधनों में भी अधिकार भेद है; परन्तु भगवत्भक्ति करनेका किसीको भी निषेध नहीं है। भक्तिमार्गमे न तो वर्ण आश्रमका विचार है और न ऊंच नीच, श्रेष्ठ, निकृष्ट देखनेकी विधि है; वह भक्तिमार्गही है कि जिसमें मनुष्यकी तो गणनाही नहीं, उसमें गज, गृध्र और वानर आदिका अधिकार देखनेमें आता है। विशेषतः वैदिक मार्ग और योग आदि क्रियाओंका साधन भारतवासी आर्य्योंमेंही सम्भव हो सकता है, क्योंकि पृथिवी भरमें भारतकी प्रकृति ही पूर्ण है इस कारण यहां पूर्णावस्था के मनुष्य उत्पन्न हो सकते हैं; परन्तु एक भक्तिमार्गही ऐसा मार्ग है कि जिसका साधन करके पृथिवीके और और देशवासी भी भगवान्को लाभ कर सकते हैं। भक्तिमार्गही

जगज्जननी महाविद्या की नाईं सब जीवोंको ही पूर्णानन्द का अधिकार दान कर सक्ती है ॥

अतोह्यविपक्वभावानामपितल्लोके ॥ ७९ ॥

इसकारण साधकको पराभक्तिका लाभ न होने पर भी उसका निवास भगवत्लोक मेंही हुआ करता है ॥७९ ॥

शास्त्र विहित कर्म्मकांडके साधन करने से भक्तको स्वर्गादि नाना शुभ लोकों की प्राप्ति हुआ करती है, परन्तु यदि क्रिया असम्पूर्ण रह जाय तो पाप आदिसे अधोगति भी होसक्ती है। परन्तु भक्तिमार्गमें ऐसा नहीं होता; यदि साधक गौणीभक्तिका साधन करते करते पराभक्तिको प्राप्त करलेता है तो उस की मुक्ति ही होजाती है; किन्तु यदि ऐसा न हो और साधक गौणीभक्तिके साधन मेंही रहजाय तो भी भगवत्भक्ति रूप संसारसे उसको भगवत्लोककी ही प्राप्ति होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। यह भक्तिमार्गमें भयहीनता और परम उपकारिता भक्तिमार्ग की और एक विलक्षणता है ॥

क्रमैकगत्युपपत्तेस्तु ॥ ८० ॥

क्रमके अनुसार गतिकी प्राप्ति कर्म्म द्वारा ही होती है ॥ ८० ॥

पूर्व सूत्रों में कहे हुये विचारको दृढ करने के अर्थ महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि कर्म्म द्वारा अपने अपने क्रमके अनुसार क्रमशः सद्गति की प्राप्ति होती है, परन्तु भक्ति साधनमें वैसा नहीं होता; भक्तिकी यह और भी विलक्षणता है कि भक्ति साधन द्वारा तुरत ही परम कल्याण की प्राप्ति होती है। शास्त्रोंमें लेख है कि, "अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिम्"। अर्थात् अनेक जन्म जन्मान्तरके साधन से क्रमशः सद्गति की प्राप्ति होती है। साधकगण अपने

अधिकारके अनुसार वर्ण और आश्रम धर्म्म की रीति पर साधन करते हुये बहुत जन्म जन्मान्तरमें क्रमके अनुसार उन्नत होकर सद्गति लाभ करते हैं। परन्तु निर्मल भक्तिका उदय होते ही जीव भगवत् साक्षात्कारसे अनन्य बुद्धि हो तुरन्तही मुक्त होजाता है ॥

उत्क्रान्तिस्मृतिवाक्यशेषात् ॥ ८१ ॥

क्योंकि श्रीभगवान् ने भी कहा है कि उनके भक्तगण सब कर्मों को उल्लंघन करके एकबार ही सिद्धि लाभ करनेमें समर्थ होजाते हैं ॥ ८१ ॥

अब महर्षि सूत्रकार पूर्व विचारमें आप्त प्रमाण दे रहे हैं और कहते हैं कि श्रीभगवान् ने निज मुखसे भी ऐसा कहा है। श्रीमद्भगवतगीतामें पाया जाताहै कि, "अपिचेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ क्षिप्रं भवति धर्म्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति" अर्थात् हे कौन्तेय ! जो अनन्यचित्त होकर भक्तिपूर्व्वक मेरी आराधना करते हैं वे अतिशय दुराचारी होने पर भी उनको साधु करके जानना; दुराचारी गण भी यदि मेरी भक्ति करें तो शीघ्रही धर्म्मपरायण होकर शान्तिको प्राप्त कर लेते हैं। भगवत्भक्त जीव चाहे सदाचारी हो और चाहे दुराचारी हो, उसका नाश नहीं है, करुणामय भगवान् की कृपासे भक्तगण सब अवस्थामें कल्याण को प्राप्त करते हैं इसमें कोई सन्देह नहीं ॥

महापातकिनां त्वार्तौ ॥ ८२ ॥

महापातकियों की भक्ति को आर्तभक्तिमें समझना उचित है ॥ ८२ ॥

महापातकी गण किस क्रमसे मुक्त होंगे. इस विषय को

समझानेके अर्थ और जिज्ञासुओंके सन्देह दूर करनेको महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। महापातकियोंकी भक्ति आर्तभक्ति है; आर्तगण जैसे भगवत् स्मरण करके पाप मुक्त होजाते हैं उसही रीति पर महापातकी गणोंमें भगवत्भक्तिका उदय होते ही उनके पूर्वकृत पापोंका नाश होजाता है; और क्रमशः भक्तिकी उन्नति के सहित उनका चित्त शुद्ध होता हुआ अन्तमें उनको पराभक्तिका अधिकार प्राप्त होजाता है; और पराभक्तिका अधिकारही मुक्तिरूप है। किस प्रकारसे भक्ति द्वारा क्लेशोंका तुरतही नाश होजाता है उसका विस्तारित विचार पूर्वही आचुका है इस कारण यहां पुनरुक्ति नहीं कीगई॥

सैकान्तभावो गीतार्थप्रत्यभिज्ञानात्॥ ८३॥

पराभक्तिका नामही ऐकान्तभाव है क्योंकि गीता में भी ऐसा लेख है॥ ८३॥

अब महर्षि सूत्रकार भक्ति मार्गके जिज्ञासु गणोंकी दृष्टि यथार्थ भक्ति अर्थात् भक्ति साधनका लक्ष रूप पराभक्तिकी ओर आकृष्ट कर रहे हैं; और कह रहे हैं कि पराभक्ति ही ऐकान्तभाव है; पराभक्ति ही भक्ति साधनका लक्ष है। भक्ति मार्गका उपदेश देते समय श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने श्रीमद्भगवत्गीतामें जहाँ जहाँ भक्तिकी पूर्ण अवस्था का वर्णन किया है वहां वहां अनन्य भावको ही पराभक्ति का यथार्थरूप कहकर समझाया है। यथा "सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रजेत्" और "अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्" और "यो मां पश्यति सर्वत्र" इत्यादि वाक्यों से श्रीभगवान्ने यही सिद्ध किया है कि जब भक्तका मन भगवत्

के अनन्य प्रेममें लय होजाय, जब भक्तको सिवाय भगवत् के और कहीं भी कुछ न दिखाई दे वही अनन्य भावको पराभक्ति कहा है ॥

परां कृत्वैव सर्वेषां तथाह्याह ॥ ८४ ॥

गीताके वाक्य पराभक्तिके साधनके अर्थही हैं ॥ ८४ ॥

अब इस सूत्र द्वारा सूत्रकार महर्षि पराभक्तिकोही सब साधनोंका लक्ष करके सिद्ध कर रहे हैं; और कहते हैं कि एकमात्र पराभक्तिको ही लक्ष करके, और एकमात्र पराभक्ति की ही प्राप्तिके अर्थ परब्रह्म अवतार श्रीभगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्रजीने श्रीमद्भगवतगीताका उपदेश किया है । श्रीभगवान्ने गीतामें जो कर्म्म, उपासना, और ज्ञान स्वतंत्र स्वतंत्र वर्णन किये हैं वह सबही पराभक्तिकी प्राप्त करने के अर्थही है । गीताके प्रथम छः अध्यायोंका उपदेश गौणीभक्तिके निमित्त है; द्वितीय छः अध्यायों का उपदेश पराभक्तिके उदय करनेके अर्थ है; और तृतीय अर्थात् शेष छः अध्यायोंका उपदेश पूर्ण पराभक्ति धारण करनेके अर्थ ही है । जो कुछ है सो भक्ति ही है; भगवतभक्तिसे ही जीव को पूर्ण कल्याणकी आशा है, चाहे जिस प्रकारका साधन करो शेषमें विना भक्ति उदयके परम कल्याण प्राप्तिकी सम्भावना नहीं है ॥

इति महर्षि शांडिल्यकृत भक्तिदर्शन अन्तर्गत द्वितीय अध्याय एवं तद्सह निगमागमी नामक भाष्य समाप्त ।

तृतीयअध्यायः ।

प्रथमाह्निकः ।

भजनीयेनाद्वितीयमिदंकृत्स्नस्यतत्स्वरूपत्वात्॥८५॥

यह सबही भगवान्का रूप है, इसकारण सेवन करनेके योग्य है; अर्थात् यह समस्त उनसे स्वतंत्र नहीं है ॥ ८५ ॥

शास्त्रोंमें संसारको कहीं कहीं असत्य लिखा है, इसकारण महर्षि सूत्रकार जिज्ञासुओंके सन्देह दूर करनेके अर्थ कहते हैं कि सत् चित् आनन्दरूप भगवान्के स्वरूप का यह बहिर्जगत् विस्तार रूप विकाश है, अर्थात् उनसे सिवाय और कोईभी पदार्थ नहीं। केवल जीव अपनी अल्पज्ञताके कारण स्वतंत्र स्वतंत्र विषयोंमें फँसकर यथार्थ सर्वव्यापक आनन्दका अधिकारी नहीं होसकता; नहीं तो यथार्थमें सब एकही हैं, केवल जीव दृष्टिसेही अलग अलग देखनेमें आते हैं; इसकारण असत् करके कोईभी पदार्थ नहीं है। सार्व्वभौम दृष्टि उदय होतेही यह सब एक रूपही अनुभव होने लगता है ॥

तच्छक्तिर्माया जडसामान्यात् ॥ ८६ ॥

भगवत् शक्तिका नामही माया है; वह चैतन्य शून्य होने पर जडवत् है।८६।

शास्त्रोंमें कहीं कहीं पाया जाता है; कि यह संसार मायाका रूप है, इसकारण जिज्ञासुओं के सन्देह दूर करने के अर्थ महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि, माया कहके श्रीभगवान्से स्वतंत्र कोई नूतन पदार्थ नहीं है; उनकी विचित्र शक्तिका नामही माया है। और उस मायामें जहां जितना कम चैतन्य अंश है, उस चैतन्य अल्पज्ञताके कारण उसको उतनाही जड़ रूप कहा जाता है। जगत्को माया न कह

कर भगवतशक्तिका विकाश कहनेसे आत्मविचारमें भेद नहीं पडेगा । उदाहरण रीति पर विचार सकते हैं कि, मनुष्यमें ज्ञानरूपी चेतन अधिक होनेके कारण मनुष्य सब जीवोंमें श्रेष्ठ है; परन्तु जरायुज, अंडज, स्वेदज यह तीन प्रकारके जीवही विशेष चेतनवान् हैं; इन तीनों उपरान्त चतुर्थ उद्भिज्ज जीवोंमें वह चेतन अंश न्यून होने के कारणही पूर्व जीवोंसे यह जीव अधिक जडवत् है, तद्पश्चात् प्रस्तरआदिमें जड़का पूर्ण विकाश हुआ है । इस उदाहरणसे यह स्पष्टही अनुभव होगा कि जितना जितना चैतन्य अंश न्यून होता गया है उतना उतनाही जड़ अंश वृद्धिको प्राप्त होता गया है; परन्तु यह सबही जीव हैं, केवल जडाधिक्यके कारण जड़ और चैतन्याधिक्यके कारण चैतन्य कहा गया है;और इसी प्रकार सृष्टिका और और विस्तार भी समझना उचित है। यह सृष्टि और कुछ नहीं है केवल शक्तिमय श्रीभगवान्‌की शक्तिका विकाशही है ॥

व्यापकत्वाद्व्याप्यानाम् ॥ ८७ ॥

व्यापककी सत्यताके कारण व्याप्य भी सत्य है ॥ ८७ ॥

सच्चिदानन्दका सत अंश चित् अंशमें, और चित् अंश आनन्द अंशमें व्याप्त है, इसकारण परस्पर व्यापकताके कारण सबही सतरूप हैं। जब ईश्वर सत् हैं, तब उनकी शक्तिका विस्तार यह संसारभी सत है । पूर्ण ज्ञानके उदय होतेही यह सब अनन्तरूप एक रूपही भासमान होने लगताहै; विश्वब्रह्माण्ड व्यापक परमेश्वरही विश्वरूप धारी श्रीभगवान हैं । भगवतभक्तकी दृष्टिमें उनके हृदय विहारी प्राणनाथका विश्वरूप यह ब्रह्माण्ड है ॥

नप्राणिबुद्धिभ्योऽसंभवात् ॥ ८८ ॥

यह कोई मनुष्य की बुद्धि कल्पित भी नहीं है ॥ ८८ ॥

यदि कोई और मतावलम्बी वैज्ञानिक विचारक ऐसा विचार करें कि, जो मनुष्य बुद्धि में न आवे उसमें विश्वास करना उचित नहीं है (ऐसे विचारक गण पुराकालमें चारवाक् आदि नामसे प्रसिद्ध हुए हैं, और आज कलके नवीन पाश्चिमी वैज्ञानिक गणोंका भी मत यही है) । इसकारण जिज्ञासुओंके सन्देह निवारण करनेके अर्थ महार्षि सूत्रकार कहते हैं कि जिस शक्ति द्वारा यह जगत् विरचित है वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म होनेके कारण मनुष्य बुद्धि से अगम्य है; सूक्ष्म शक्तिसेही यह स्थूल संसार बना है, तो बताओ स्थूल संसार कैसे सूक्ष्म शक्ति को धारण कर सकेगा। हे नास्तिक वादीगण ! अन्ध मनुष्यके हस्तिदर्शन के नाईं यदि तुम्हारी अल्पबुद्धिसे तुम भगवत्भक्ति की महिमा न समझ सको तो क्या बुधगण भी उसको अस्वीकार कर सकते हैं॥

निर्मायोच्चावचं श्रुतीश्चनिर्मिमीते पितृवत् ॥८९॥

भूत समस्त रचना के नाईं वेद भी प्रकाशित हुआ है, जिस भाँति पिता करता है ॥ ८९ ॥

वेद के मत समर्थन के अर्थ महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि जैसे सन्तान उत्पन्न होनेके पश्चात् सन्तान का पिता उसकी शिक्षाको कर्त्तव्य समझकर उस सन्तानके हितार्थ शिक्षा का भली भाँति उपाय कर दिया करते हैं; इसी प्रकार श्रीभगवान् ने निज अंश से जगत् की सृष्टि करके जगत् के कल्याणार्थ ही वेदकी व्याख्या की है। जैसे लीलामय श्रीभगवान् का प्रकृति अंश लीलावश विस्तार को प्राप्त होकर इस संसार के रूप को धारण कर लेता है;

वैसेही श्रीभगवान्‌के ज्ञान अर्थात् चैतन्य अंश से संसारके हितार्थ ही वेद प्रकट हुए हैं। ज्ञानसे ही सब कुछ जाना जाता है; ज्ञानही चैतन्यका रूप है; ज्ञानही जीवका जीवत्व है; ज्ञानके आधिक्य सेही जीवकी क्रमोन्नति होतीहै; ज्ञान द्वाराही सत् असत् विचार की सहायतासे जीव कल्याण प्राप्त कर सकता है। वेद और कुछ नहीं है केवल पूर्ण ज्ञान के विकाश मात्र हैं; जीवके कल्याणार्थही वे भाव से बोध, बोधसे अर्थ, और अर्थ से शब्द द्वारा प्रकाशित हुए हैं। वेद अपौरुषेय हैं; और वे जीवगणोंके हितार्थ श्रीभगवान् द्वाराही प्रकाशित हुए हैं इसमें कोई भी सन्देह नहीं ॥

मिश्रोपदेशान्नेति चेन्न स्वल्पत्वात् ॥ ९० ॥

उसमें मिश्रित उपदेश है इसकारण आशंका मत करो, और वे थोडेही हैं ॥ ९० ॥

यदि वेद में ज्ञान और भक्तिमार्ग वर्णन के साथ नाना कर्म्मकांड और उपाख्यान आदि देखनेसे जिज्ञासुगण विचलित हों इस कारण महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि उनको देखकर विचलित मत हो। नाना उपदेश और कर्म्मकांड आदि साधकके चित्त शुद्धि के अर्थ हुआ करते हैं, उसके बिना ज्ञान और भक्तिका अधिकार नहीं मिल सकता। इसकारण बहुतही आवश्यकता समझ कर कर्म्मकांड आदि भी उसमें रक्खा गया है; परन्तु तो भी वेदोंमेंसे उपदेशों का भाग बहुत थोडाही है। प्रेममय श्रीभगवान तो भक्ति रूपही हैं, इसकारण भक्ति वर्णन तो वेदोंमें रहेहीगा, और ज्ञान द्वारा ईश्वरभक्ति की प्राप्ति और ईश्वर साक्षात्कार लाभ होता है, इसकारण ज्ञान भी रहना अवश्य सम्भावी है। कर्म्मकांड द्वारा चित्त शुद्धि होती है,

चित्त शुद्धि से ज्ञान का विकाश, और तद्पश्चात् भक्तिकी प्राप्ति होती है; प्रथम अधिकारियों के अर्थ कर्म्मकांड की बहुतही आवश्यकता है, क्योंकि उनका कल्याण और उनकी क्रमोन्नति बिना कर्म्मकांड के नहीं होसकती; इसकारण कर्म्मकांड का वेदों में रहना भी उचितही है। और उपाख्यान भी जिज्ञासुगणोंके बोधार्थ बहुत ही आवश्यकीय है; उदाहरण द्वारा जैसे शीघ्र पदार्थ का बोध कराया जाता है वैसे और किसी द्वारा नहीं कराया जा सकता; वे उपाख्यान सत्य पदार्थके बोधार्थ उदाहरण रूप हैं इस कारण वेदोंमें उनका होना भी आवश्यकीय है। उपाख्यान और कर्म्मकांड ज्ञान सहायक, और कर्म्मकांड और ज्ञानकांड भक्ति सहायक होनेसे उन सबोंका उपदेश वेदोंमें आया है; वे सबही पराभक्ति रूप कैवल्य पदकी प्राप्तिके अर्थही हैं ॥

फलमस्माद्बादरायणो दृष्टत्वात् ॥ ९१ ॥

बादरायण कहते हैं कि कर्म्म स्वयं फलदाता नहीं है; ईश्वरही कर्म्मके फलदाता हैं; ऐसा देखनेमें भी आता है ॥ ९१ ॥

कोई कोई मतावलंबी वैज्ञानिक गणोंने ऐसा प्रमाण किया है कि जो कुछ है सो कर्म्मही है, और कर्म्मही प्रधान होने पर ईश्वर विचारकी कोई भी आवश्यकता नहीं। ऐसे मतोंको देखकर जिज्ञासुगण कहीं भटक न जावें इसीकारण महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। सब प्रकारके वैज्ञानिकोंमें वेदान्तदर्शनकर्ता श्रीभगवान् वेदव्यासही सर्वश्रेष्ठ कहे जाते हैं, इस कारण सूत्रकारजी ने उनके ही मतको यहां प्रमाण रूपसे वर्णन किया है। श्री भगवान् वेदव्यासका यह मत है कि कर्म्म जड है; जड

पदार्थमें फलदानकी शक्ति कहां; कर्म्मके अनुसार जगत्-कर्ता ईश्वरही सत् असत् कर्म्मोंका फल दिया करते हैं। महर्षि सूत्रकार अपना मत भी कहते हैं कि यही ठीक है, क्योंकि ऐसा देखने में भी आता है । विचारिये कि, इस संसारमें जो कोई सत् या असत् कर्म्म करता है, उसे देश-पति राजा ही उस किये हुए सत् और असत् कर्म्मका फल रूप राज सन्मान अथवा दंड दिया करते हैं; कुछ कर्म्मही अपने आप फलकी उत्पत्ति नहीं कर सकते, परन्तु राजशक्ति द्वारा ही फलकी प्राप्ति होती है । इसी प्रकार युक्ति और आप्त प्रमाण द्वारा महर्षि सूत्रकारजीने कर्म्मकी गौणता और सर्व्वशक्तिमान् जगत्कर्ता ईश्वरकी प्रधानताको सिद्ध कर दिखाया है। इस सूत्रसे यही तात्पर्य है कि यदिच सत् असत् कर्म्मसे ही सुख और दुःखरूपी फलोंकी उत्पत्ति हुआ करती है परन्तु फलदाता ईश्वरही है; इस कारण मुमु-क्षुजीवगणों को, और बुद्धिमान् मनुष्य गणोंको कर्तव्य है कि वे उनकी शरणमें आवें और जगत्पति श्रीभगवान् कोही सब कुछ करके मानें ॥

व्युत्क्रमादप्ययस्तथादृष्टम् ॥ ९२ ॥

विलोम रीतिसे लय हुआ करता है ॥ ९२ ॥

अब महर्षि सूत्रकार लय क्रमका वर्णन कर रहे हैं; और कहते हैं कि विलोमरीति से ही लय हुआ करता है अनु-लोम क्रमसे सृष्टि हुआ करती है, और उसके विपरीत अर्थात् बिलोम रीतिसे लय होता है । यथा ब्रह्म से प्रकृति, प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अहंतत्त्व, अहंतत्त्व के पश्चात् आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, और जलसे पृथिवी उत्पन्न होती हुई सृष्टिका वि-

स्तार होजाता है; परन्तु लय होते समय इससे विपरीत होता है,अर्थात् विस्तार सृष्टि पृथिवी सहित अपने कारण जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में, आकाश अहंतत्त्व में अहंतत्त्व महत्तत्त्व में महत्तत्त्व मूल प्रकृति में और प्रकृति ब्रह्म में लय को प्राप्त होकर स्वरूप भावकी प्राप्ति होजाती है। यही बिस्तार भाव का नाम सृष्टि और संकोच भाव रूपी स्वभाव का नाम ही लय है। वृक्ष रूप बिस्तार सृष्टि और बीज रूप लयावस्था स्वभाव दोनों ही सत्व हैं; केवल जीव की अन्तर्दृष्टि हीनता रूप अज्ञान से ही, और केवल भगवत्भक्तिरूप अनन्यप्रेम के न होनेसे ही जीवको यह सब विस्तार स्वतंत्र स्वतंत्र अनुभव होता है; जब यही जीव को अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति होगी तब ही भगवतकृपा से उसको भगवत्भक्ति का लाभ होगा, तब ही वह स्वरूप को प्राप्त होकर त्रितापसे मुक्त होता हुआ लय रूपी मोक्षपदको प्राप्त होजायगा ॥

द्वितीयाह्निकः।

तदैक्यंनानात्वैकत्वमुपाधियोगहानादादित्यवत्।९३॥

वह एक ही है, क्योंकि उपाधि का नाश होनेपर नाना रूप ही एक रूप होजाता है; सूर्य्य के नाईं ॥ ९३ ॥

अब महर्षि सूत्रकार लयावस्था के भाव की व्याख्या कर रहे हैं और कहते हैं कि, जैसे शास्त्रोक्त "ध्येयस्सदासवितृमंडलमध्यवर्ती" इत्यादि वाक्यों से श्रीभगवान् का रूप और सूर्य्यमंडल पृथक् पृथक् वर्णन किया गया है, परन्तु मंडल रूप उपाधि का परित्याग कर देने से एकमात्र भगवत् संज्ञा ही रहजायगी। इसीप्रकार इस ब्रह्माण्ड और

सर्वव्यापक ईश्वर को भी समझना उचित है; यह संसार का नाम भगवत्सत्ता में लय हो जानेपर संसार और श्रीभगवान् में कोई भी स्वतंत्रता नहीं रहेगी ॥

पृथगिति चेन्नापरेणासंबन्धात्प्रकाशानाम् ॥ ९४ ॥

पृथक् भी नहीं कह सकते, क्योंकि वैसा कहने से प्रकाश की नाईं भगवान् से असम्बन्ध होगा ॥ ९४ ॥

प्रकाश का सम्बन्ध जैसे श्रीभगवान् में और सूर्य्यमंडल में अभिन्न है । क्योंकि यदि कहैं कि, श्रीभगवान् सूर्य्यमंडल से सम्पूर्ण अलग है तो यही समझ में आवेगा कि प्रकाशरूप सूर्य्यमंडल अलग है और भगवान् अलग हैं; परन्तु ऐसा नहीं होसक्ता क्योंकि श्रीभगवान्का ज्योतिर्मय रूप वर्णन करनेके अर्थ ही सूर्य्यमंडल का विचार रक्खा गया है; और इस ही विचार से इस भगवत ध्यान में प्रकाश का सम्बन्ध सूर्य्यमंडल और श्रीभगवान् में एक ही है । इस ही विचारके अनुसार ब्रह्माण्ड में और ईश्वर में भिन्नता स्थापन नहीं हो सकती ॥

नविकारिणस्तुकारणविकारात् ॥ ९५ ॥

विकार भी नहीं कह सकते । क्योंकि ऐसा कहनेसे मूल कारण में विकार होनेका डर होजायगा ॥ ९५ ॥

यदि कोई ऐसा कहने लगें कि यह संसार भगवत विकारहै; तो ऐसा अयुक्ति कथन सम्भव ही नहीं होसकता क्योंकि निर्विकार भगवान् में विकार का सम्भव होना सम्पूर्ण असम्भव है । विकार वर्जित ब्रह्मसेही इस संसारकी सृष्टि हुई है, इसकारण इस सृष्टि को विकार रूप भी कदापि नहीं कह सकते । इसकारण पूर्व सूत्रोक्त विचार

और इस सूत्रोक्त विचार से यही सिद्ध हुआ कि न तो संसार को श्रीभगवान् से पृथक् कह सकते हैं, और न संसार को भगवत् विकार ही कह सकते हैं। लीलामय श्रीभगवान् में ही यह भगवत् लीला रूप संसार प्रतिष्ठित है; केवल उनकी अघटन घटावनी महामाया के वशसेही यह अलग अलग भास रहा है॥

अनन्यभक्त्यातद्बुद्धिर्बुद्धिलयादत्यन्तम्॥ ९६॥

अनन्य अर्थात् पराभक्ति से बुद्धि की अत्यन्त लय होने से तन्मयी बुद्धि का उदय होता है॥ ९६॥

जिस प्रकार तैलपाई कीट को कंचुकी कीट धारण करने पर, वह कंचुकी कीट का रूप चिन्ता करते करते तन्मयी बुद्धि युक्त होकर तैलपाई कीट अपने धारक कंचुकी भृङ्गकाही रूप बन जाता है; उसही प्रकार दृढ भक्ति युक्त साधक अपनी अनन्यभक्ति से श्रीभगवान् को चिन्ता करते करते सुख दुःख आदि उपाधियों से रहित होकर तुरत ही परमानन्द रूपको प्राप्त करलेते हैं। इस सूत्र द्वारा महर्षि सूत्रकार भक्ति द्वारा मुक्ति का क्रम समझा रहे हैं; और कहते हैं कि प्रेमसागर श्रीभगवान् में जब भक्त प्रेम युक्त होजाता है, तब उसका प्रेम प्रवाह जितना ही उस प्रेमसागर में मिलता जाता है उतनाही तरङ्ग की चंचलता ठहर कर परमानन्द की प्राप्ति हुआ करती है; अर्थात् प्रेमिक भक्त में जितनी भगवत्भक्ति बढती जाती है उतनाही वह ब्रह्मानन्द को प्राप्त करता जाता है, और शेष में पराभक्ति की प्राप्ति द्वारा तन्मय बुद्धि होकर कैवल्यपद को प्राप्त कर लेता है

आयुश्चिरमितरेषां तु हानिरनास्पदत्वात् ॥ ९७ ॥

साधारण जीव गणों की आयु प्रारब्ध भोग करनेके अर्थ ही है, परन्तु भक्त गणों की आयु भोग के कारण न होनेसे उनके संचित कर्म्म अपने आपही नष्ट होजाते हैं ॥ ९७ ॥

अब यदि जिज्ञासु गणों के हृदय में सन्देह उठे कि वेद और वेद सम्मत शास्त्र समूह यह कहतेहैं कि बिना कर्म्म-क्षय के अर्थात् बिना कर्म्म फल भोग किये मुक्ति नहीं होती, तो अब एकाएक भक्त गणों की मुक्ति होना कैसे सम्भव है? इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर में महर्षि सूत्रकार ने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि भगवत् भक्तों की परमायु साधारण जीव गणोंकी नाईं होनेपर भी उनका भोग उस प्रकार से नहीं होता उनके सत् असत् कर्म्मों के भोग शीघ्रही होजाते हैं। जब भक्त के हृदय में पराभक्ति का उदय होने लगताहै, तब उस समय एक मुहूर्त का भगवत् विच्छेद भी साधक को शत कोटि युग की नरकयंत्रणा के तुल्य अनुभव होता है; और उसी प्रकार यथार्थमें एक मुहूर्तका भगवत् संग लक्ष लक्ष वर्षोंके स्वर्गभोग के नाईं जान पडताहै । इस कारण इस रीति पर भक्त केहृदयमें भगवत् संयोग, और भगवत् वियोग रूपी सुख और दुःखके भोगसे तुरत ही साधकके सब संचित कर्म्म थोडेही काल में अग्नि द्वारा तूल राशि दहन की नाईं नष्ट होजाते हैं । जिसप्रकार भक्तिमार्ग साधन की विलक्षणता है उसप्रकार ही भक्तों के कर्म्म क्षय होनेकी भी विलक्षणता है; भगवत् भक्ति की महिमा अपार है ॥

ससृतिरेषामभक्तिः स्यान्नाज्ञानात् कारणासिद्धेः ॥९८॥

जीव अज्ञानके कारण वारंवार आवागमन चक्र रूपसे संसारमें भ्रमण नहीं करता है, परन्तु भक्तिहीनताहीने जीवको संसार रूप पाशमें बांध रक्खा है; कारणमें असिद्धिके कारण ॥ ९८ ॥

अब महर्षि सूत्रकार भगवत् प्रेमियोंके विचारके अनुसार त्रिताप रूपी बंधनका कारण अन्वेषण द्वारा साधक गणोंका मुक्ति पथ सरल कर रहेहैं । और कहते हैं कि अज्ञान नामसे कोई विशेष पदार्थ नहीं है; क्योंकि सिवाय भगवत्के और दूसरी वस्तुका होना सम्भव नहीं; इस कारण बंधनके कारणमें अज्ञानका रहना असम्मव है । केवल भगवत् भक्तिके अभावसे ही जीव ऐसा भटकता रहता है । श्रीभगवान् की अघटन घटना पटीयसी मायाहीने जीवको मोहरूप पाशसे बांधकर संसारमें लटका रक्खा है;इसकारण महर्षि सूत्रकार कहते हैं "कि बिना भगवत् भक्ति रूप अस्त्र द्वारा वह भगवत् शक्ति रूप पाश खुलही नहीं सकता; केवल भक्तिही मुक्तिका एकमात्र कारण है । श्रीभगवान्ने भी निज मुखसे कहाहै कि, "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेकं ये प्रपद्यंते मायामेतां तरंति ते" अर्थात् दुष्परिहार्य मेरी गुणमयी माया मेंही जीव बँधा हुआ है, जो मनुष्य केवल मेरीही शरण लेता है अर्थात् मुझमें अनन्य भक्ति युक्त होता है वही मेरी इस मायासे बचता है ॥

त्रीण्येषां नेत्राणि शब्दलिंगाक्षभेदाद्रुद्रवत् ॥ ९९॥

महादेवके नाईं शब्द, लिंग, और अक्ष, यह तीन नेत्रों द्वारा जीव जान लेता है ॥ ९९ ॥

अब महर्षि सूत्रकार मुक्तात्माकी अवस्था वर्णन कर रहे हैं । और कहते हैं कि पराभक्ति युक्त जीव हो जानेपर वह देवादिदेव महादेव रूप हो जाता है; जैसे महादेवके तीन नेत्र होते हैं वैसेही त्रिनेत्र होकर जीव भगवत् दर्शन करने लगता है शब्दअर्थात् वेदादिवाक्य,लिङ्ग अर्थात् परित्राणभूति शक्ति, और अक्ष अर्थात इन्द्रिय गोचर ज्ञान; इन तीन प्रकार

के नेत्रोंको धारण करके तब भक्त सर्व्वव्यापक प्राणनाथ श्री भगवान्‌को सब स्थानमें ही निहारते निहारते परम आनन्द सागरमें मग्न हो जाता है । अर्थात् वह पराभक्ति युक्त भक्त तब शब्द ज्ञान द्वारा सकल स्थानमें श्रीभगवान्‌को ही देखता है, तब वह भक्त लिङ्ग अनुभव द्वारा समाधिस्थ होकर अन्तर्ज्ञानसे उनको ही निहारता है, और तब अक्ष ज्ञान द्वारा समस्त चराचर ब्रह्माण्डको भगवत् रूप ही देखकर उनके ही प्रेममें मग्न रहता है । अर्थात् तब जीव शिवरूप ही हो जाता है ।

आविस्तिरोभावाविकाराःस्युःक्रियाफलसंयोगात्१००

लय और उत्पत्तिरूप क्रिया फलके संयोगसे विकार रूप दिखाई पडता है ॥ १०० ॥

मुक्तावस्थाको दृढ करनेके अर्थ महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि केवल लय और उत्पत्ति क्रिया फल सेही यह विकारवत् प्रतीत होता है; नहीं तो एक ही रूप है । निर्विकार परम ब्रह्ममें यथार्थ रूपसे कोई भी विकार नहीं है, केवल जीवके मनकी चंचलता रूप तरंगमें उत्पत्ति, उच्छ्वास, और उपसंहार रूप भावान्तर अनुभव के कारण सृष्टि, स्थिति और लय रूप यह विचित्र संसार प्रतीत होता है; परन्तु यथार्थमें सिवाय एक रूपके और द्वितीय वस्तु नहीं है । पराभक्तिके उदयसे जब मन शुद्ध होकर भगवत् दर्शन करनेमें समर्थ होता है तबही वह जीव अपने आनन्द मय रूपको प्राप्त करके, जो यथार्थमें था वही हो जाता है । समुद्रकी तरंग समुद्र मेंही मिलकर समुद्रके ही रूप को प्राप्त हो जाती हैं; यही जीव रूप तरंगोंका ब्रह्मरूप समुद्र में लय हो जाना ही पराभक्ति है । भक्ति ही श्रेष्ठ है ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः हरिओं ।

इति महर्षिश्रीशाण्डिल्यकृत–

भक्तिदर्शन–

तत्सह ":निगमागमी " नामकभाष्यं समाप्तम् ।

पता-खेमराज श्रीकृष्णदास, "श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् प्रेस-मुंबई.

पुस्तक लौटाने की तिथि अन्त में अङ्कित है । इस तिथि को पुस्तक न लौटाने पर दस नये पैसे प्रति पुस्तक अतिरिक्त दिनों का अर्थदण्ड आप को लगाया जायेगा ।

५०००.११.१४ ।

"श्रीवेंकटेश्वर" छापाखानेको परमोपयोगी, स्वच्छ, शुद्ध और सस्ती पुस्तकें।

यह विषय आज ३५।४० वर्षसे अधिक हुआ भारतवर्षमें प्रसिद्ध है कि, इस छापाखानाकी छपी हुई पुस्तकें सर्वोत्तम और सुन्दरप्रतीत तथा प्रमाणित हुईहैं। इस यन्त्रालयमें प्रत्येक विषय की पुस्तकें जैसे-वैदिक, वेदान्त, पुराण, धर्मशास्त्र, न्याय, मीमांसा, छन्द, ज्योतिष, साम्प्रदायिक, काव्य, अलंकार, चम्पू, नाटक, कोष, वैद्यक, तथा स्तोत्रादि संस्कृत और हिन्दीभाषाके प्रत्येक अवसरपर विक्रीके अर्थ तैयार रहतेहैं। शुद्धता, स्वच्छता तथा कागजको उत्तमता और जिल्द की बँधाई देशभरमें विख्यात है। इतनी उत्तमता होनेपर भी दाम बहुत ही सस्ते रक्खे गये हैं और कमिशन भी पृथक् काट दिया जाता है। ऐसी सरलता पाठकों को मिलना असंभवहै। संस्कृत तथा हिन्दीके रसिकोंको अवश्य अपनी २ आवश्यकतानुसार पुस्तकोंके मँगानेमें त्रुटि न करनाचाहिये. ऐसा उत्तम, सस्ता और शुद्ध माल दूसरी जगह मिलना असम्भव है)॥ भेजकर 'सूचीपत्र' मँगा देखो॥

पुस्तक मिलनेका ठिकाना-

खेमराज श्रीकृष्णदास,

"श्रीवेङ्कटेश्वर" छापाखाना खेतवाडी-मुम्बई.